चित्राधार

चित्राधार

—:०:—

लेखक

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी

(राज्यपाल, उत्तर प्रदेश)

अनुवादक

श्री पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

प्रकाशक

(राजा) रामकुमार-प्रेस-बुकडिपो,

उत्तराधिकारी— नवलकिशोर-प्रेस-बुकडिपो,

लखनऊ.

प्रथम संस्करण]   १९५६   [मूल्य ३॥)

प्रकाशक—
बाबू हरिराम भार्गव,
मैनेजर—(राजा) रामकुमार बुकडिपो,
लखनऊ,

मुद्रक
श्रीमुन्नूलाल श्रीवास्तव
मैनेजर—(राजा) रामकुमार-प्रेस, लखनऊ
१६५६ ई०

अपनी परम पूज्य माताजी को

विषय-सूची

कहानी			पृष्ठ
१—मेरा उपयोग	....	....	१
२—गौमति दादा का गौरव	....	....	२०
३—एक पत्र	....	....	२९
४—शामलशाह का विवाह	....	....	३५
५—शकुन्तला और दुर्वासा	....	....	५१
६—गुजरात का श्रेष्ठ कवि	....	....	६३
७—मैं क्या करूँ	....	....	७७
८—नई आँखों पुराना तमाशा	....	....	८४
९—अपनी सफाई	....	....	९९
१०—स्मृतिलोक की सुन्दरी	....	....	१०९
११—अग्निहोत्री	....	....	१२२
१२—प्राइवेट सेक्रेटरी	....	....	१३४
१३—एक स्वप्न	....	....	१६४
१४—मेरी कामचलाऊ धर्मपत्नी	....	....	१७१
१५—कोकिला	....	....	१९१
१६—नारी-सुधारक सभा	....	....	२१८
१७—एक साधारण अनुभव	....	....	२५४
१८—कण्डु-आख्यान	....	....	२६३
१९—भावी सम्पादकों के लिए	....	....	२९०
२०—वैकुण्ठ से वृन्दावन	....	....	२९८
२१—फौजदार साहब	....	....	३१६
२२—प्रणय, पुराना और नया	....	....	३४४

—————

चित्राधार

मेरा उपयोग

मुझे अपने मित्र प्रोफ़ेसर शिवलाल से मिले लगभग तीन वर्ष हो गये थे। हम कालिज के साथी थे। अन्तर केवल इतना था कि वह यूनीवर्सिटी में प्रथम या द्वितीय स्थान प्राप्त करते थे और मैं साधारणतः अनुत्तीर्ण होनेवाले श्रीमानों के वर्ग (सप्लीमेण्टरी लिस्ट) की ही शोभा बढ़ाता था। और, यदि कभी भूले-भटके ३० प्रतिशत अंक पाने का सौभाग्य भी होता था तो वह सब मेरी चालाक आँखों और पास बैठे साथी की चतुराई की करामात होती थी। परन्तु विद्या के अनाकर्षक क्षेत्र को छोड़कर सर्वत्र मेरा स्थान प्रथम था। बाजार से कुछ लाना हो और दुकानदार को—वह भले ही चालाक मोमिन[1] हो—ठगना या बनाना हो अथवा प्रोफेसर

[1]—मुसलमानों की एक जाति।

को तंग करके वापस भेजना हो या और किसी को किसी तरह परेशान करना या बनाना हो तो उसमें मैं सरगना समझा जाता था।

शिवलाल दुनियादारी के मामले में तो बिलकुल कोरे थे, पर जैसे अन्धे के हाथ बटेर लग जाती है वैसे ही उन्हें एम० ए० में चांसलर का मैडल और प्रोफेसर की मन-पसंद नौकरी तुरन्त मिल गई। फिर उनके भाग्योदय में जो कमी रह गई थी उसकी पूर्ति हिन्दू-समाज में शिक्षित कही जाने-वाली एक स्त्री के साथ उनके विवाह ने कर दी।

उसके एक या दो वर्ष बाद मैं उनसे मिला, उस समय मुझे शिवलाल का गृहस्थी का जीवन बड़ा विचित्र लगा। हमारी अनसूया भाभी रूप का अवतार और फैशन की पुतली थीं। उनका बोलना-चालना नखरे से खाली न होता था। स्वभाव की जरा चंचल थीं। इसलिए सचमुच वह तितली जान पड़ती थीं। और प्रोफेसर महोदय? यद्यपि वे मेरे मित्र थे तो भी मुझे कहना पड़ता है कि वे अपने अध्ययन-कक्ष से बाहर निकलकर पत्थर की मूर्त्ति की तरह खड़े भर रह सकते थे। कहें तो कह सकते हैं कि वे 'मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति' का साक्षात् रूप थे। और अधिक क्या कहूँ, विधाता ने भी ऐसा बेमेल जोड़ा मुश्किल से बनाया होगा। न हुए बेचारे नवलराम[1], नहीं तो दो-एक गरबा[2] ही रच डालते।

१—एक गुजराती के कवि। २—गरबा एक विशेष प्रकार का गुजराती गान है। उसमें गाया जानेवाला गीत।

मैं बहुत दिन बाद उनसे मिलने गया था, इसलिए मुझे स्वभावतः उनके गृहस्थ-जीवन की गतिविधि जानने की इच्छा हुई। घर में घुसते ही सामने अनेक रंगों के अद्भुत और आकर्षक मिश्रण में इन्द्रधनुष के समान शोभायमान अनसूया मिली। दूसरी अनेक स्त्रियाँ कीमती कपड़े खरीद कर या तो अपने पतियों के पैसे बर्बाद करती हैं या पहनने के नाम पर कपड़ों को लाद-भर लेती हैं; परन्तु कपड़े पहनना अनसूया भाभी ही जानती थीं।

तीन वर्ष हो जाने पर भी उनके स्नेह और आदर-भाव में कमी नहीं आई थी। पाँच ही मिनट में उन्होंने मुझसे मेरी हरएक बात के सम्बन्ध में प्रश्न किये। उनसे बातें करते हुए जवाब देने की जरूरत नहीं पड़ती थी। उन्हें तो सवाल पर सवाल करने में ही मजा आता था। मैंने भी उनकी और शिवलाल की तबियत के बारे में पूछा। जवाब कुछ ऐसा ही मिला कि उनके लाख कोशिश करने पर भी मुझसे यह बात छिपी न रह सकी कि उनके मन पर विषाद की गहरी छाया है। अब उनकी हँसी पहले की तरह सूर्य-किरण के समान अथवा गुलाब के खिले हुए फूल के समान आनन्दमय, निर्दोष, उन्मुक्त और विनोदपूर्ण नहीं थी। दुःखमय जीवन के अकथनीय अनुभवों ने उन्हें कुछ गंभीर बना दिया था। उनकी बातचीत की स्वाभाविकता नष्ट हो चुकी थी। उनके मुख और स्फटिक-सदृश माथे पर विचार, चिन्ता और सहनशीलता की गहरी रेखाएँ खिंच गई थीं।

जब मैंने यह पूछा कि प्रोफेसर कहाँ हैं तो उन्होंने अध्ययन-कक्ष की ओर इशारा किया। मैं उस ओर जाने लगा तो बोलीं—"जरा सँभल के जाना। इस समय श्रीमान् अध्ययन में डूबे हुए हैं। मुझसे भी आने के लिए मना किया है।" अंतिम शब्द मजाक में कहे गये होंगे, ऐसा लगने पर भी उनके स्वर और शब्दों के उच्चारण से अनायास ही उनके गहरे असन्तोष का लंबा इतिहास प्रकट हो गया।

"कोई बात नहीं, जरा जाकर देखूँ तो सही।" यह कहकर मैं दरवाजा खोलकर भीतर पहुँचा। एक बड़ी भारी मेज पर पुस्तकों के ढेर में प्रोफेसर का झुका हुआ सिर ही उनके अस्तित्व की सूचना दे रहा था। मैं पास जाकर खड़ा हो गया। मैं समझता था कि अब ऊपर देखेंगे। लेकिन मैं प्रतीक्षा करते-करते थक गया।

"कहिए प्रोफेसर साहब, क्या हो रहा है?"—मैंने पूछा। लेकिन अध्ययन में लीन प्रोफेसर क्यों सुनने लगे?

"क्यों शिवलाल! पहचानते हो या नहीं?"

प्रोफेसर द्वारा किये गये मेरे स्वागत-सत्कार को देखने के लिए आई हुई अनसूया की दबी हुई हँसी पीछे से सुनाई दे रही थी।

प्रोफेसर जैसे नींद से—विचारों के नशे से जगे और बोले—"कौन, रमणीक? तुम यहाँ कैसे? अरे हाँ, मैंने ही तुम्हें आने के लिए लिखा था। क्या साढ़े तीन इतनी जल्दी बज गये? माफ करना। मैं तो भूल ही गया था। अनसूया, रमणीक को कुछ जलपान कराया कि नहीं?

"जी नहीं।" कुछ मजाक में नीची गर्दन किये अनसूया बोली, "यह काम तो मैंने घर के मालिक के लिए ही रहने दिया है। आपके आने भर की देर है।"

प्रोफेसर ने सिर खुजलाया। बोले—"मुझे एक घंटे का काम और है। वह हुआ कि मैं आया।" यह कहकर प्रोफेसर ने फिर किताबों में डुबकी लगाई और हम बाहर चले आये।

घंटे-डेढ़ घंटे हमने राह देखी, पर प्रोफेसर के दर्शन नहीं हुए। जब अनसूया ने यह बताया कि वे उस बात को भूल भी गये होंगे, तब हमने चाय पी और बाहर आकर बैठ गये। घर के सामने का छोटा-सा बगीचा अनसूया के प्रकृति-प्रेम का परिचय दे रहा था। गनीमत यह थी कि अनसूया की जीभ में चार तोतों के बराबर व्यर्थ, किन्तु मनोनुकूल बोलने की शक्ति थी, नहीं तो अकेले बैठे रहना कठिन हो जाता। छिपाने का पूरा-पूरा प्रयत्न करने पर भी अनसूया की बातों से उसके मन की स्थिति प्रकट ही हो जाती थी। ऐसी रसिक युवती को ऐसा एकाकी जीवन बिताना पड़े, यह कोई अच्छी बात तो नहीं थी, पर एक कुशल और सद्गुणी गृहिणी की भाँति अपने क्रीड़ा-प्रिय स्वभाव द्वारा वह जीवन-पथ पर आनन्दमय रविरश्मियाँ बिखेरती और यथासंभव सुख में दिन काटती थीं। फिर भी मुझसे न रहा गया। मैंने पूछा—"लेकिन ऐसे अकेले तुम्हारे दिन कैसे बीतते होंगे?"

'यही तो मेरी विशेषता है। जानते हो, मैं कौन हूँ? दार्शनिक का बायाँ अंग और प्रोफेसर की भी प्रोफेसर। प्रोफेसर को तो पुस्तकें भी चाहिए, पर मेरे लिए तो पूर्ण एकान्त को

छोड़कर अन्य सब चीजें व्यर्थ हैं।" हँसते हुए अनसूया ने कहा। मृदु स्वर में छिपी हुई कुछ-कुछ बाहर दिखाई देने-वाली कठोरता उनके हृदय की छिपी वेदना का आभास दे रही थी।

आधा घंटा हुआ होगा कि इतने में प्रोफेसर आये। आते ही केवल पाँच मिनट में तीन वर्ष के हालचाल पूछ डाले और चुपचाप घूमने लगे। उनकी मुखमुद्रा को देखकर ऐसा लगता था, मानो वे मेरी रुचि के अनुकूल बात खोजने के लिए भगीरथ-प्रयत्न कर रहे हों। "तुमने हीगल पढ़ा है?" पाँच मिनट में प्रोफेसर ने यह रस-मय प्रश्न खोज कर निकाला।

मैंने कहा—"प्रोफेसर साहब, इस बात को रहने दीजिए। यदि कालिज में आपके साथ रहने के कारण यह जानता भी हूँगा कि हीगल कौन था तो भी इस समय तो उसे भूल ही गया हूँ। आजकल तो मैं मिल में हूँ, इसलिए यदि कहो तो उसका हाल कुछ कहूँ।" विवश होकर मुझे प्रोफेसर की बात की उपेक्षा करनी पड़ी। कारण, यदि वह एक बार दर्शन की समस्या को लेकर बैठ जाते तो फिर कब साधारण विषय पर आवेंगे, यह विचाराधीन बात थी।

इतने में अनसूया फूल लेकर आईं। उन्होंने कुछ फूल मुझे दिये और कुछ प्रोफेसर को। अनसूया फूल देने की साधारण क्रिया को भी इतना आकर्षक बना देती, जितना आकर्षक दूसरी स्त्रियाँ जीवन के सुन्दर से सुन्दर चित्रों को भी नहीं बना सकतीं। जैसे किसी विद्यार्थी द्वारा न्याय के सिद्धान्त बताने में हुई भूल को सुधार रहे हों, ऐसे शिवलाल बोले—"अनसूया, तुम

तो फूलों का काल हो !" बेचारी अनसूया का मुँह उतर गया। फिर भी हिम्मत करके जवाब दिया—"आप पुस्तकों के और मैं फूलों की! किसी को कुछ-न-कुछ तो चाहिए ही!"

"प्रोफेसर, आज मैं नाटक देखने चली जाऊँ ?" अनसूया आज्ञा माँगते हुए कुछ देर ठहरकर बोली—"रमणीक भाई साथ जायँगे। आज कितने दिन हो गये, मैं नाटक देखने नहीं गई।"

"अरे अनसूया, तुम अब भी वैसी की वैसीं रहीं। नाटक में क्या मजा आता है ? वक्त बर्बाद होता है, यही न ?"

अनसूया ने मेरी ओर देखा। मैंने अनुभव किया कि ऐसे ही शुष्क वातावरण के कारण यह रसमयी पुष्पित वल्लरी कुम्हलाती जा रही है। जैसे हमारी मूर्खता पर तरस खा रहे हों, ऐसे प्रोफेसर साहब ने हमको कृपा करके नाटक देखने जैसा भयंकर पाप करने की आज्ञा दे दी।

अनसूया के कोमल मन पर बहुत काफी समय तक नाटक का प्रभाव रहा। उसने सवेरे से ही नाटक के संवादों और गानों का पारायण-सा करना आरंभ किया। मेरे या प्रोफेसर के सवालों के जवाब में भी वह भिन्न-भिन्न पात्रों के अभिनय और वाक्यों की हूबहू नकल करने लगी। बहुत दिन के बाद मन-चाहा आनन्द प्राप्त करके वह अद्भुत ढंग से खिली। पर उसकी आनन्द-रश्मियों ने प्रातःकाल भोजन करते समय प्रोफेसर की ठंडी भावनाओं पर भी प्रभाव डाला। बोले—"आज तुम बहुत उछल रही हो, क्यों ? पहले भी ऐसा ही पागलपन करती थीं। देखो, रमणीक पगली कहेगा।"

प्रोफेसर जब ऐसा कहते तब बड़ी ही ममता से कहते। लेकिन ममता से ही, उससे अधिक और कुछ नहीं।

"माफ कीजिए कृपानिधान! मैं तो सदा ही पागलपन करती हूँ। यों क्यों नहीं कहते कि उसे देखने की आँखें आपको आज मिली हैं!"

"क्यों, क्या मैं पहले नहीं कहता था!"

"अवश्य! उस समय आँखें थीं, लेकिन उसके बाद तो आपने दर्शन का ऐसा चश्मा चढ़ा लिया कि कुछ दिखाई ही नहीं देता।"

इसके बाद प्रोफेसर चुप हो गये। जब ग्रीष्म का प्रचण्ड सूर्य तपता है तब हिमालय की वर्फ तो उसके अनुपात में थोड़ी सी ही पिघलती है।

खाकर ऊपर जाने के बाद मैं बाहर खड़ा था और प्रोफेसर तथा अनसूया लायब्रेरी में थे। कौन सी बात घर में चुपचाप करनी चाहिए और कौन-सी बाहर जोर से, इस बात का ज्ञान प्रोफेसर को जरा कम था। इसलिए उनकी आवाज तो सुनाई दे रही थी, पर अनसूया मर्यादा के कारण धीमे बोल रही थी। प्रोफेसर कह रहे थे—"आज ये सब पुस्तकें तितर-बितर हो रही हैं।..................दिमाग खराब हो गया लगता है। दिन भर बकबक करती रहती हो............ कोई सुननेवाला आया कि हरि-कथा आरंभ हुई।..........

बेचारी अनसूया को एक दिन भी आराम करने की छुट्टी नहीं। इसमें प्रोफेसर का भी क्या दोष! उनका मन सारे दिन दर्शन और न्याय के ऊँचे तथा अगम्य

वातावरण में विचरण करता था—उनका आनन्द, चिन्ता, सुख-दुख सब विचार के ही थे। साधारण मनुष्य का स्वभाव कैसा होता है, उसकी क्या-क्या जरूरतें हैं, उसको किसमें सुख मिलता है, इन सब बातों का खयाल उन्हें नहीं था। अनसूया उदास मुख लिये बाहर आईं। आँखों में आँसुओं की झलक थी—आँसू नहीं। मैं खिड़की में ऐसे खड़ा था जैसे मैंने कुछ देखा-सुना ही न हो। कुछ देर वह मेरी ओर देखती रहीं, पर जैसे यकायक कुछ ध्यान आ गया हो, ऐसे एकदम मुँह फेरकर कुछ हँसती हुई नीचे चली गईं।

दोपहर को चाय के वक्त अनसूया का ठाट-बाट और नखरा कुछ और ही था। उस समय उनमें सबेरे की अपेक्षा उल्लास अधिक था, लेकिन पहले प्रोफेसर की ओर बार-बार देखकर वह जो अल्हड़पन से बात करती थीं, वह उन्होंने छोड़ दिया और उस सम्मान का पात्र उन्होंने मुझे बनाया। प्रोफेसर अक्सर मुँह लटकाये बैठे रहते और कभी-कभी तनिक हँसकर इस बात का सबूत दे देते थे कि जो कुछ हो रहा है, उसे वे देख सुन रहे हैं।

अनसूया ने कहा—"रमणीक भाई, चलो अब जरा बाहर घूमें—प्रोफेसर साहब! आप तो लायब्रेरी में जायँगे न? अच्छा, नमस्ते!"

कुछ देर घूमकर हम बगीचे में पड़ी एक बेंच पर बैठ गये। सामने अध्ययन-कक्ष की खिड़की में से विचार-मग्न प्रोफेसर इधर से उधर घूमते हुए दिखाई देते थे। कभी-कभी वे हमारी तरफ भी देख लेते थे। जब-जब उनकी नजरें हम पर

पड़तीं, तब-तब अनसूया ऐसा बहाना करती जैसे वह मेरे साथ बहुत ही गुप्त बातें कर रही हैं। लेकिन उस समय मैं उसकी चालाकी न समझ सका।

दूसरे दिन भी ऐसा ही हुआ। प्रोफेसर में धीमे-धीमे कुछ और ही परिवर्तन होता जा रहा था। उनकी आँखें निस्तेज थीं। वे बार-बार अनसूया की ओर फिरतीं, लेकिन जहाँ तक हो सकता, अनसूया ऐसा व्यवहार करती जैसे वह देख ही न रही हो। वह कपड़ों की ओर पहले से कहीं अधिक ध्यान देते दिखाई दिये। एक बार तो शीशे के सामने खड़े होकर कॉलर ठीक करते भी देखे गये। प्रोफेसर के लिए तो इतनी सावधानी असाधारण ही कही जायगी।

चाय के बाद डाक आई और वे लाइब्रेरी में गये। भोजन करते समय तो ऐसा लगा, जैसे प्रोफेसर की तबियत में कुछ अजीब विकार आ गया हो। उनकी आँखें लाल, चेहरा उदास और मन व्याकुल दिखाई दिया। छिपाने का बेहद प्रयत्न करने पर भी वे अपनी व्याकुलता न छिपा सके खाते समय उनके हाथ काँप रहे थे, लेकिन अनसूया ने शायद कुछ नहीं देखा और यदि देखा भी होगा तो कुछ बोली नहीं। या तो यह समझिए कि वह बहुत दिन के बाद मिले मेरे स्वभाव की कोमलता से अभिभूत हो गई थी, या यह समझिए कि वह आतिथ्य-सत्कार का उच्च आदर्श रखना चाहती थी। कुछ भी समझिए, अब वह मेरा ही ध्यान रखती थी।

बड़ी कठिनाई से प्रोफेसर ने खाया और हम अध्ययन-कक्ष में गये।

"अच्छा, तुम मेरे मित्र हो कि नहीं ?" मेरी ओर देखकर वे काँपती आवाज में बोले—उनके चेहरे से यह बात स्पष्ट दिखाई दे रही थी कि उनके मन में कोई बड़ी भारी खलबली मची हुई है।

"शिवलाल ! इतने वर्षों बाद यह सवाल ?"

अत्यंत दयनीय मुखमुद्रा में उन्होंने कहा—"हाँ, मैं मूर्ख हूँ। विद्या के व्यसन में दुनिया की सुध-बुध भूल गया हूँ। खरा-खोटा या सच्चा-झूठा परखने की शक्ति मुझमें नहीं है।"

क्या जवाब दूँ, यह मुझे नहीं सूझा। कुछ देर गंभीर विचार करने के बाद प्रोफेसर फिर बोले—"रमणीक, क्या ऐसा भी होता है कि कुछ लोगों का परस्पर मिले बिना चैन ही न पड़े ?"

"क्या अजीब सवाल है ? अरे वाह रे प्रोफेसर ! क्या सब तुम्हारे ही जैसे होते हैं ? कुछ क्या, बहुत से लोग बिना एक दूसरे से मिले जी ही नहीं सकते।" इस बात को सुनकर उन्होंने ऐसे गर्दन हिलाई जैसे मैंने कोई बड़ी भारी बात कह दी हो—कोई बड़ी भारी समस्या सुलझा दी हो। कोई दूसरा ऐसी बातें पूछता तो दिल्लगी समझी जाती, लेकिन इस मामले में उनकी अज्ञता कोई हास्यास्पद नहीं थी।

थोड़ी देर चुप रहने के बाद वह ऐसे बोले, जैसे उन्होंने कोलम्बस की सी जागरूकता से कोई दूसरी खोज की हो। उन्होंने कहा—"क्या कुछ लोगों को आमोद-प्रमोद और अच्छे कपड़ों के बिना सुख नहीं मिल सकता ?"

"नहीं !" लंबा जवाब देने की सामर्थ्य मुझमें नहीं

थी। कारण, सादगी, विद्वत्ता और मूर्खता का ऐसा पुतला भाग्य से ही कोई दूसरा मिल सकता था। फिर ऐसे सवालों के कारण अपने चेहरे को गंभीर बनाये रखना भी मुश्किल काम था। वह अनसूया के सम्बन्ध में बात करते जान पड़ते थे। मैंने सोचा कि यदि वह ऐसे विचारों पर अधिक ध्यान दें तो निश्चय ही अनसूया का भाग्योदय हो सकता है। जैसे कोई भयंकर गुप्त बात कह रहा हो, ऐसे धीमे से उन्होंने मेरे कान में कहा—"मैं उसे दुखी करता हूँ। मुझे उसे अधिक सुख देना चाहिए।" फिर एक छोटे बालक के समान भोलेपन से उन्होंने पूछा—"क्या सुख दूँ? मेरी तो कुछ समझ में ही नहीं आता।"

"प्रोफेसर, ये व्यर्थ की बातें न करो। यदि तुम अनसूया के साथ थोड़ी देर बैठो और बात करो तो तुम दोनों को कहीं अधिक सुख मिलेगा।"

एक गहरी साँस छोड़कर प्रोफेसर वहाँ से उठ गये।

सबेरे छः बजे अनसूया जहाँ मैं सो रहा था वहाँ आई और बोली—"रमणीक भाई!"

"क्यों बहन?"

"जरा एक काम करो न। प्रोफेसर के पेट में बड़ा दर्द है। जरा दवाखाने से दवा ले आओ।"

"अच्छी बात है। नुस्खा है?"

"हाँ, यह है। देखो, जरा जल्दी आना।"

"लेकिन दवाखाना कहाँ है?"

"देखो, इस सीधी सड़क चले जाना। थोड़ी दूर आगे

फव्वारा मिलेगा। उसकी बगल में ही दवाखाना है।"

मैंने जल्दी से कपड़े पहने और दवा लेने चल दिया। पता नहीं, अनसूया ने जगह बताने में भूल की या मैं गलत रास्ते चला गया। आधा घंटा चलते रहने पर भी फव्वारा नहीं आया। आखिरकार मैं थक गया और इस डर से कि जो कहीं ज्यादा समय लग गया तो बेचारे शिवलाल दर्द के मारे मर जायँगे, मैंने पूछ-ताछ की। थोड़ी देर में एक दूसरा दवाखाना मिला। दूकानदार ने दवा दी। दवा देते समय वह बोला—"क्यों जनाब, आपको डिस्पेसिया की ही भारी शिकायत है न ?"

"नहीं जी, यह तो मेरे मित्र के पेट के दर्द की दवा है।"

"क्या कहा ? यह आपकी गलती है जनाब! यह तो केवल डिस्पेसिया की ही दवा है, समझे ?"

मैंने सोचा, अनसूया से कहीं गलती तो नहीं हो गई ? ऐसा हो भी जाता है। मैंने दूकानदार को नमस्कार कर जल्दी से घर का रास्ता पकड़ा।

जब घर आया तो मैं यह समझता था कि प्रोफेसर सदा की भाँति लायब्रेरी में ही होंगे। लेकिन जब वहाँ जाकर देखा तो किताबें तितर-बितर पड़ी थीं जैसे नये फटे हुए ज्वालामुखी ने वहाँ की धरती हिला दी हो। प्रोफेसर की प्रिय मित्र कीमती और प्यारी किताबें, जिनमें कुछ के पन्ने खुले हुए थे और कुछ फेंकने से फट गई थीं, जहाँ-तहाँ बिखरी पड़ी थीं। शिवलाल के उस पुस्तकालय पर, जिसे उसकी सारी दुनिया कहा जा सकता था, घोर संकट आया जान पड़ता था। वहाँ से होकर

मैं ऊपर गया। अनसूया के कमरे से कुछ आवाज आ रही थी। प्रोफेसर वहाँ सो रहे होंगे, यह सोचकर मैं वहाँ गया।

प्रोफेसर निराशा की मूर्ति बने जमीन पर पैर फैलाये बैठे थे। तत्त्वज्ञान से सदैव चमकनेवाली उनकी आँखें सूज गई थीं। उनमें से आँसुओं की धारा बह रही थी। जैसे एक छोटा बच्चा धूल में बैठकर मुट्ठियों से आँसू पोंछता है वैसे ही वे भी एक हाथ की मुट्ठी से आँसू पोंछ रहे थे और दूसरा हाथ जमीन पर टिका था। उनके इस भोलेपन पर हँसी आती थी। पास ही रखी हुई आलमारी से उन्होंने अनसूया के भड़कीले वस्त्र निकालकर उनकी रंग-बिरंगी शोभा से सारे कमरे को भर दिया था। उनके सामने अनसूया की एक तसवीर पड़ी हुई थी। प्रोफेसर के प्रति यदि मेरे मन में सम्मान न होता—यदि उनकी इस दयनीय दशा का कारण जानने की तीव्र आकांक्षा न होती तो सचमुच मैं खिलखिलाकर हँस पड़ता।

"अनसूया ! यह तूने क्या किया ?" प्रोफेसर रोने के कारण भर्राये हुए गले से बोले। फिर उन्होंने अपना कपाल फोड़ा और कहा—"अरे मूर्खा !"

इन दुख-भरे शब्दों से मैं घबरा गया। क्या अनसूया के साथ कोई दुर्घटना घटी है ? बात क्या है ?—पूछता हुआ मैं कमरे में घुसा। मुझे देखते ही प्रोफेसर क्रोध से लाल-पीले हो उठे। विद्वत्ता और भलाई से जगमगाते हुए उनके मुख पर एक बार प्रचण्ड रोष की विकराल छाया दिखाई दी।

"क्या है ? रमणीक ! चोर !" कहकर वे खड़े हो गये। लेकिन प्रोफेसर के कोमल हृदय के लिए इतना ही गुस्सा बहुत

था, इस कारण पास की कुर्सी पर बैठकर रोते हुए वे बोले—"अरे, तुम ऐसे नमकहराम निकले ! हे भगवान् !"

"लेकिन भाई, बात क्या है ? मैं तो तुम्हारे लिए दवा लेने गया था।" इस आक्षेप को न समझने के कारण अत्यंत आश्चर्य-चकित होकर मैंने कहा।

"कैसी दवा ?"

"जिसके लिए अनसूया भाभी ने कहा था।"

"लेकिन अनसूया है कहाँ ?"

"इसकी खबर तुम्हें है या मुझे ? मैं तो अभी-अभी बाहर से आ रहा हूँ। मुझे क्या खबर ?"

प्रोफेसर ने मेरी ओर ऐसे आँख फाड़कर देखा जैसे उन्हें मेरी बात का विश्वास न हो और मैं कोई विचित्र बात कह रहा होऊँ।

"क्या तुम्हारे साथ नहीं गई ?"

"मेरे साथ क्यों जाती ?"

"क्या तुम उसे भगाकर नहीं ले गये ?"

"भगाकर कहाँ ले जाता ?"

"तो फिर कहाँ गई ? ओ रमणीक, दिल्लगी मत करो। बता दो, अनसूया कहाँ है ? तुम ही उसे ले गये हो—"

"अरे भाई, लेकिन मैं कहाँ ले जाता ? कहीं पागल तो नहीं हो गये हो ? फिर यदि मैं ले जाता तो लौटकर क्यों आता ?"

"तो फिर यह क्या है ?" कहकर उन्होंने दो पत्र मेरे सामने फेंक दिये। उनमें एक मेरा लिखा हुआ था।

उसमें केवल इतना ही लिखा था—"अपने मित्र से सावधान रहो। यदि तुमने अपनी पत्नी को सुखी नहीं किया तो पछताओगे।"

"यह पत्र कल की डाक से आया था।"

"मुझसे बात करने से पहले ?"

"हाँ।" कल प्रोफेसर जिस गुप्त बात को कहने आये थे, यह मुझे आज मालूम हुई। "लो यह दूसरा देखो।" कहकर उन्होंने दूसरा पत्र भी मेरे सामने रख दिया। यह अनसूया के हाथ का था। उसमें लिखा था—

"प्यारे प्रोफेसर,

आपको पुस्तकें बहुत अच्छी लगती हैं, मुझे आपका साथ बहुत अच्छा लगता है। पर दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। आपको आमोद-प्रमोद से घृणा है, मुझे उसके बिना कुछ अच्छा नहीं लगता। इसलिए अंतिम प्रणाम।

आपकी

अनसूया।"

"यह कहाँ से मिला ?"

"आज सबेरे मेरी मेज पर पड़ा हुआ था।"

"सचमुच ?"

प्रोफेसर को जैसे कोई नई बात सूझी हो। सहसा खड़े हो गये। उनका मुँह पहले की अपेक्षा और भी अधिक उदास हो गया। बोले—"रमणीक ! मेरी समझ में आ गया। वह गई। उसने आत्महत्या कर ली।"

"कल के रंगढंग से तो अनसूया का ऐसा कोई विचार

मालूम नहीं होता था। हाँ, किसी शरारत का आभास अवश्य मिलता था। इस पत्र से भी ऐसा लगता है कि यह किसी मरनेवाले ने नहीं, वरन् दिल्लगी करनेवाले ने लिखा है"—मैंने प्रोफेसर से कहा। परन्तु वे दुःख की मूर्त्ति बने माथे पर हाथ रखे बैठे रहे और मेरी बात पर ध्यान दिये बिना ही सिर हिलाते रहे।

"तुम नहीं समझते रमणीक! वह निश्चय ही मर गई। मैं गधा हूँ। आज विवाह को तीन वर्ष हो गये, पर इस बीच न तो मैंने उसे प्यार से बुलाया और न कोई सुख दिया। न उसे ओढ़ने दिया, न पहनने। मैं तो जानवर हूँ। पढ़ने ही पढ़ने में अनसूया चली गई।"

"अरे भाई, जरा धैर्य रखो। मुझे तो मजाक.........."

"अरे मूर्ख, यह मजाक नहीं। यदि मैं ऐसा जानता तो अपने अध्ययन-कक्ष में आग लगा देता। ओ मेरी अनसूया!"—कहकर वह रो पड़े।

"अरे ओ.........." वैसी ही आवाज में जवाब देती शरारत से हँसती और उछलती-कूदती अनसूया ने आलमारी के पीछे से निकलकर पीठ की ओर से प्रोफेसर के गले में बाँहें डाल दीं। प्रोफेसर ने गर्दन ऊँची की। अनसूया के हाथ तुरन्त उनकी आँखों पर पहुँच गये और वह मेरी ओर देखकर आँखें मटकाने लगी।

"कौन, अनसूया?"—गद्‌गदकण्ठ से रोते-हँसते प्रोफेसर ने पूछा। अनसूया चुप रही। धीमे-धीमे, डरते हुए-से प्रोफेसर ने आँखों पर के सुकोमल हाथ पहचाने और हँस पड़े।

"अनसूया ! छोड़ ।"

"ना-आ-आ ।"

"तू कहाँ गई थी ?"

"मर गई थी ।"

"सच बता । मैं तो घबरा गया था ।"

"किस्मत की बात है ।"

"बता न, कहाँ छिपी थी ? यह शरारत किस लिए ? तुझे खबर है कि मैं जीते ही मर गया था ।"

"क्यों ? सौतें तो आपके पास थीं ?"

"सौतें कौन ?"

"पुस्तकें !"

"भाड़ में गईं पुस्तकें । मेरी आँखें छोड़ । दम घुटा जा रहा है ।"

"तुमने तीन वर्ष तक मेरा दम घोटा, सो ?"

"क्या उसकी सजा देती है शैतान ?" प्रोफेसर आँखें मींचे ही उसे पकड़ने का प्रयत्न करने लगे; लेकिन अनसूया कब पकड़ में आनेवाली थी ।

"नहीं, अभी तो और सजा देनी है ।"

"क्या ?"

"मैं जैसे कपड़े पहनाऊँ वैसे पहनना, मैं जहाँ ले जाऊँ वहाँ घूमने जाना और जब तक मैं चाहूँ तब तक मेरे पास बैठाना ।"

"अरे वाह रे मेरे मास्टर !" कहकर प्रोफेसर ने जोर से अनसूया का हाथ खींचा और उसे अपनी बाँहों में भर लिया ।

बहुत दिन की भूखी बेचारी अनसूया प्रसन्नतापूर्वक उन बाँह में समा गई। जैसे दो प्रचण्ड पर्वत-शिखरों के बीच सुधामय चन्द्रमा चमकता है, वैसे ही प्रोफेसर की बाँहों के बीच अनसूया का सुन्दर मुख शोभा पा रहा था। मुझे लगा कि मेरा काम पूरा हो गया, इसलिए मैं चुपचाप वहाँ से खिसक आया।

क्या आजकल आपने प्रोफेसर को देखा है? उनके शिष्यों का कहना है कि अनसूया उनसे उठक-बैठक कराता है।

———

गौमति दादा का गौरव

समानता की बात करने के लिए तो सब वीर हैं, लेकिन क्या प्रजातंत्र की जरा सी बात करने से ही अपने कुलाभिमान और जाति-अभिमान को छोड़ा जा सकता है? कभी नहीं। यदि यह दोष हो तो भी प्रशंसनीय है, 'महापुरुषों की अंतिम कमजोरी' है। तब फिर यदि सुमतिशंकर का परिवार इस दोष से भूषित हो तो क्या बुरी बात है?

आज सब जगह क्या है? और सब तो दो-चार पीढ़ियों की ही बात करते हैं, पर सुमति तो शुद्ध ऋग्वेदी आश्वलायनी शाखा और आत्रेयस गोत्र का ऊँचा तथा विशुद्ध ब्राह्मण है। जब सुमति के पास अपनी वंश-परम्परा का गौरव है, जब दिन में तीन बार कष्ट उठाकर नाम और कुल भूल जाने के डर से वह कुलभूषण 'आत्रेयसगोत्रोत्पन्नोहं' कहकर इस बात का जीता-जागता स्पष्ट प्रमाण दे सकता है कि उसके बाप-दादे अनसूया के पेट से ही उत्पन्न हुए थे; जब अपनी वंशावली खोलते-खोलते वह अपने आदिपुरुष अत्रि तक

वैसे ही पहुँच जाता है जैसे किसी भूमि में अथवा पेड़-पौधों में छिपकर बहनेवाली और दिखाई न देनेवाली नदी के उद्गम की खोज करते-करते हम पहाड़ तक पहुँच जाते हैं; जब उसके पूर्वज अत्रि ब्रह्मा-विष्णु-महेश को गोद में खिलाने-वाले स्वामी ठहराये जा सकते हैं और जब इस प्रकार ब्रह्मा तक का शृंखलाबद्ध तथा प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है, तब फिर किसकी जुर्रत है जो सुमतिशंकर के कुलाभिमान को झूठा कहने की हिम्मत कर सके।

इस प्रामाणिक वंशावली के सामने चीन के पदच्युत राजा के वंश-गौरव का भी कोई मूल्य नहीं। फिर भी यदि आप सुमति की बुआ और काका को अत्रि-संबंधी बातें करते सुनें तो आपको ऐसा लगेगा कि जब अनसूया ने ब्रह्मा-विष्णु-महेश को अपने आँचल में छिपाया था, तब सुमति की बुआ और काका किवाड़ के पीछे छिपकर अनसूया दादी के पराक्रम को देख रहे थे। जब किसी शुभाशुभ प्रसंग पर सात सुपाड़ी रखकर सप्तर्षियों का आवाहन किया जाता तब सुमति के काका विमतिशंकर की छाती गज भर चौड़ी हो जाती और वे अत्रि बनी हुई सुपाड़ी को चन्दन के चार छींटे और फूल की दो बड़ी पंखड़ियाँ अधिक चढ़ाये बिना न रहते। उसके बाद तुरन्त गर्व से इधर-उधर देखते और धीरमति बुआ की ओर उन्मुख होकर उन्हें अत्रि-सुपाड़ी दिखाते हुए अपनी दृष्टि से ही 'ये हैं अपने दादा', यह बात कह देते।

लेकिन यदि कुलगौरव का कारण केवल इतना ही होता तो उसमें कोई विशेष नवीनता न रहती—क्योंकि ब्रह्मा के

ऋषि-पुत्रों से ही भारतवर्ष के ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई है, बाकी दूसरे देशों में भी उनकी उत्पत्ति ब्रह्मा की उँगली से उत्पन्न पुत्रों से ही हुई है, इस कारण सौभाग्य से इस बात का प्रमाण मौजूद है कि करोड़ों भूदेव सीधे ब्रह्मा से ही उत्पन्न हुए हैं। परन्तु सुमतिशंकर के कुटुम्ब के गर्व का कुछ और भी कारण था जिसे वह और उसके कुटुम्बीजन धीमी तथा सम्मान-सूचक आवाज में ही प्रकट करते और यदि ऐसा न होता तो मन ही मन समझते। जैसे उनमें 'मति' न हो, ऐसे वे अपने लड़कों और लड़कियों, सबके नाम के पीछे 'मति' जोड़ते, जैसे सुमति के काका विमति, बुआ धीरमति, बाप शंकरमति आदि-आदि।

बात यह थी कि उनका 'गौमति' नाम का कोई पूर्वज बड़ा प्रतापशाली हो गया था, इसलिए उसके ये सभी वंशज ऐसा व्यवहार करते थे जैसे वे दूसरे सब लोगों की अपेक्षा विशेष रूप से बढ़े-चढ़े हों। उनके यहाँ के सब लोग अकड़ और रोब में रहते। उनके काका ज्योनार, बरात और शव-यात्रा में आगे-आगे चलते और उनकी बुआएँ रोने और गाली गाने में सबसे अलग लय और अलग तीखेपन का पुट देतीं। उनके लड़कों को दूसरों के साथ खेलने की सख्त मनाही थी। स्कूल के मास्टरों को कड़ा हुक्म था कि खबरदार, हमारे लड़कों को दूसरे लड़कों के साथ बैठने या घूमने न दिया जाय! कारण, वे 'गौमति के पेट' के थे। उनके कुटुम्ब के सब लोग मोर की तरह ऊँची गर्दन करके चलते और बहुत ही कम बात करते।

वे बात-बात में 'यदि मैं गौमति के पेट का होऊँ तो' कहते और बार-बार 'गौमति' के कुल को लजाने की बात कहकर सबके ऊपर अपनी धाक जमाते।

जब सुमति छोटा था तब उसे इससे बहुत चिढ़ लगती थी, क्योंकि 'गौमति'-कुलोत्पन्न होने पर भी उसमें उनकी बू जरा कम थी। उसकी समझ में नहीं आता था कि उसमें ऐसी कौन सी बात थी जिसके कारण न तो वह मुहल्ले के लड़कों के साथ खेल सकता था, न स्कूल में साथ बैठ सकता था, न उनके साथ लाई-चने खा सकता था और न बरसात में झूलने जा सकता था। धीरमति बुआ और हरमति बुआ दोनों उसे बहुत धमकातीं और 'गौमतिकुलकलंक' होने की भयानक चेतावनी देतीं।

उस पर भी हरमति बुआ में कुलाभिमान की मात्रा कुछ अधिक तीव्र थी। उनका पति जीवित था लेकिन सास और पति के साथ सात वर्ष तक अपने कुल के बड़प्पन पर वाद-विवाद करने पर भी वे उनकी मोटी अक्ल में 'गौमति'-कुल की महत्ता की बात न बिठा सकी थीं और कुलदीपिका हरमति बुआ ने ऐसे तुच्छ लोगों के साथ रहने की अपेक्षा पति के जीतेजी रँडापा लेकर पीहर में ही शेष जीवन बिताने का निश्चय किया था। कभी-कभी सुमति पूछ बैठता कि अमुक काम क्यों करूँ? पूछते ही बुआ का पारा चढ़ जाता। लड़के की कुबुद्धि का नाश करने के लिए ईश्वर से प्रार्थना के रूप में उनकी आँखें आकाश की ओर उठ जातीं और बहुत होता तो बुआएँ धीमी आवाज के साथ पूजा की कोठरी की

ओर उँगली उठातीं। ऐसा करने का एक विशेष कारण था।

पूजा की कोठरी का भी अद्‌भुत रहस्य था। 'गौमति' का नाम लेते ही सब की नजरें उधर मुड़ जातीं और सबको उनका ऐसा भय लगता जैसे वे शरीर वहाँ बैठे हुए हों। वर्ष में एक दिन—बैसाख बदी चौदस को घर के बड़े-बूढ़े इकट्ठे होते। बच्चों को कोठरी में जमा करते और घी का दीपक जलाकर सब पूजा की कोठरी में जाकर किसी को नैवेद्य समर्पित करवाते।

यह क्या है, यह देखने को सुमति का मन तो बहुत होता पर काका की आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता था। जब वह बड़ा हुआ तो उसे बताया गया कि पूजा की कोठरी में 'गौमति' दादा के पहने हुए कपड़े, मुकुट और आभूषण हैं। कुटुम्ब में ऐसी भी मान्यता थी कि जब तक ये वस्त्राभूषण इस प्रकार रहेंगे तब तक कुटुम्ब की महत्ता में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ेगी। जाति के लोग चाहे जो कुछ कहते पर उनमें भी कुछ दन्तकथाएँ प्रचलित थीं और उनसे 'गौमति'-कुल-तिलकों को भारी आदर मिलता तथा यजमान उनको दक्षिणा भी अच्छी देते। धीरे-धीरे बुआओं ने समझाया कि जब बाईस वर्ष पूरे हो जाते हैं तभी हरएक लड़के-लड़की को 'गौमति' दादा की पोशाक देखने का प्रथम अवसर मिलता है।

जैसे-जैसे सुमति बड़ा हुआ वैसे-वैसे यह लगा कि वह कुलदीपक होगा। उसका दिमाग सातवें आसमान पर पहुँचा, उसका स्वभाव अकड़ू हुआ और वह भी बार-बार 'गौमति'

के कुल की बात कहने लगा। बाईस वर्ष का होने तक पूजा की कोठरी में तो जाया नहीं जा सकता, पर कल्पना के घोड़े दौड़ाकर इस बात का विचार तो किया ही जा सकता था कि कैसी रेशमी पोशाक, कैसे चमकते हीरे-मोती, कैसी लचकदार पगड़ी और कैसी वैजयंती माला अन्दर पड़ी होगी। उसने मन में सोचा कि वह अवश्य ही 'गौमति' दादा का अपेक्षा दो-चार हाथ बढ़ा-चढ़ा होगा। अँग्रेजी पढ़ना शुरू करते ही उसने मैट्रिक में पढ़ाये जानेवाले एक रुपये के मूल्य का भारतवर्ष का इतिहास लेकर उसकी पंक्ति-पंक्ति में 'गौमति' शब्द खोजने का प्रयास शुरू कर दिया था। वह प्रयास मैट्रिक में आकर पूरा हुआ; क्योंकि तब उसकी समझ में आया कि एक रुपयेवाला इतिहास तो अपूर्ण होता है। उसके बाद फिर श्रद्धा उत्पन्न हुई और उसने स्कूल के पुस्तकालय से 'मिल' का इतिहास घर लाकर उसकी पंक्तियों की जाँच-पड़ताल शुरू की।

एक यजमान की गलत राय से सुमति को कालिज में दाखिल कराने का निश्चय किया गया। बोर्डिंग में दुराचार होने के कारण उसे यजमानों के यहाँ रखा गया और उसने अपनी जाति और कुल की पवित्रता की रक्षा के साथ-साथ जीविकोपार्जन के लिए पाश्चात्य शिक्षा लेना शुरू किया।

अँग्रेजी शिक्षा की दूषित अपवित्रता ने सुमति के पवित्र 'गौमति' स्वभाव को बिगाड़ दिया। धीरे-धीरे 'स्वातंत्र्य' और 'व्यक्तित्व' जैसे पाश्चात्य शब्दों की भनक उसके कानों में पड़ने लगी और वह गंगा की भाँति निरन्तर नीचे गिरता चला गया।

एक अत्यंत व्यक्तिगत बात है और वह यह कि एक बार उसने लगातार तीन दिन तक संध्या नहीं की। यही नहीं, एक दिन उसने कालिज की 'डिबेटिंग सोसायटी' में 'सब मनुष्य समान हैं', इस विषय पर बोलने की धृष्टता कर डाली। परन्तु अधमता की चरम सीमा तो उस दिन हुई जब एक बार उसने हिम्मत करके यह कह डाला कि बाप-दादों के बड़प्पन की डींग मारकर जीना अपनी क्षुद्रता की स्वीकृति के समान है।

उसके अधःपतन की पराकाष्ठा हो गई। 'गौमति'-कुल में वह अंगार पैदा हुआ। स्वर्ग में, या जहाँ कहीं हो, वहाँ गौमति की आत्मा गरज उठी। ब्रह्मलोक में अत्रि ऋषि के हाथ में से गौमुखी गिर पड़ी। उनकी अर्द्धांगिनी अनसूया की आँखों से आध्यात्मिक आँसू बहने लगे।

जैसे-जैसे यह लड़का बिगड़ता गया वैसे-वैसे उसके मन में पूजा की कोठरी का भेद जानने की आकांक्षा प्रबल होता गई; क्योंकि कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण न मिलने से उसे ऐसा लगा कि वह कोई ठाकुर या जमींदार होगा। बीस और बाईस वर्ष के बीच का अन्तर उसे प्राणलेवा जान पड़ा। अन्त में बाईस वर्ष पूरे होने को आये। काका मर गये थे, इसलिए बुआओं ने उसे इस गौरव का भारी रहस्य बताने के लिए 'हाँ' कह दिया। चाहे जो बात हो, पर सुमतिशंकर का हृदय उछलने लगा। मन पर मान का दबाव पड़ा।

शुभ दिवस पर वह गाँव आया। घर की बहुएँ पीहर भेज दी गईं और छोटे बच्चे पड़ोसी के घर पहुँचा दिये गये।

दरवाजा बन्द कर बुआ-भतीजे चुपचाप 'गौमति' दादा की पोशाक देखने के लिए पूजा की कोठरी के पास गये। तीनों ने साँस रोकी और मान, कृतज्ञता तथा पितृभक्ति की सम्मिलित भावना से सामूहिक रूप में अत्रि और अनसूया की मानसिक पूजा की। जैसे 'गौमति दादा' सो रहे हों, ऐसे वे सब धीमे-धीमे भीतर गये। एक बुआ के हाथ में घी का दीपक था, दूसरी के हाथ में नैवेद्य। पूजा की कोठरी अँधेरी होने के कारण उसमें वंदा[1] आदि की बस्ती भरीपुरी थी, तो भी एक बुआ ने गहरे आले में से एक बक्स निकाला।

सुमति को रणभेरी का नाद सुनाई दिया। आज बाईस वर्षों के आकर्षणकेन्द्र को देखने का समय आया। उसका हाथ काँपा और मुँह का थूक सूख गया। दूसरी बुआ ने धीरे से बक्स में बँधी हुई पुरानी ताली से उसका ताला खोला। दोनों बुआओं ने ऐसे गर्व से सुमति से देखने के लिए कहा, जैसे वे उसे 'मौंटो क्रिस्टो' की तिजोरी दिखा रही हों। अँधेरे में सुमति ने नीचे झुककर देखा। सचमुच नीली मखमल की पोशाक और पगड़ी के स्वप्न झूठे निकले। एक टुकड़े पर कुछ खुदा हुआ दिखाई दिया। सुमति नीचे झुका, कुछ 'सूरत' जैसा पढ़ा गया।

'धीरमति बुआ! इसे हमें बाहर निकालना चाहिए। इस पर कुछ लिखा है।'

'नहीं-नहीं! बाहर कैसे निकाला जा सकता है?'

१—एक कीड़ा, जिसे हिन्दी में तिलचट्टा, चीपा या [illegible] कहते हैं।

'देखो तो सही, गौमति दादा कौन थे, इसका पता लगाना है। निश्चय हो जायगा।'

'देखा ? यह है अँग्रेजी शिक्षा का कुप्रभाव'। बुआओं ने 'हाँ-ना' करते-करते 'हाँ' कही। सुमति के मन में कई प्रकार के विचार आये। हो सकता है कि सुमति दादा सूरत के दीवान हों ! सूरत जागीर में भी मिल सकता है !! हो सकता है कि सरकार से लिखा-पढ़ी करके उसे फिर वापस ले लिया जाय !!! विलायत तक लड़ना पड़े तो कोई बात नहीं, खोया हुआ अधिकार तो मिल जायगा।

इस प्रकार विचार करते-करते उसने बक्स बाहर उजाले में निकाला। कहीं सूरत शहर हाथ से न खिसक जाय, ऐसे उसने धीरे से कोट को ऊँचा किया। और सुमति की आँखों के आगे अँधेरा छा गया।

"Surat Factory Mr. Howard's Hamal"

'सूरत की कोठी मि० हॉवर्ड का अर्दली।'

सुमति को गश-सा आ गया। उसके हाथ से पोशाक गिर पड़ी। 'गौमति दादा' क्या करते थे, इसका पता चल गया। तनिक होश आया और वह खिलखिलाकर हँस पड़ा।

बुआएँ खीजीं, भतीजे का भ्रम दूर हुआ। बुआओं और भतीजे ने कुलाभिमान को जैसे-तैसे बराबर किया।

\+ \+ \+ \+

रात्रि को दोनों बुआएँ और भतीजे पीछे के दरवाजे से बाहर निकले। एक पोटली के साथ चक्की का पाट बाँधा और पड़ोस के कुएँ में 'गौमति दादा' के गौरव का विसर्जन कर दिया।

एक पत्र

मेरे स्वामी ! मृत्यु-शय्या पर पड़ी हुई मैं एक बार फिर आपकी गोद में सिर रखती हूँ। मैं यह पत्र नहीं लिखना चाहती थी, क्योंकि मैं जानती हूँ कि अनेक बार दीनता-पूर्वक कहे हुए मेरे मर्मस्पर्शी वचनों का जब आपके ऊपर कोई असर नहीं हुआ तो अब क्या होगा। लेकिन अपने विचारों और अनुभवों को आप तक पहुँचाने से मुझे दुःख से छुटकारा मिलेगा, यही सोचकर यह पत्र लिख रही हूँ। यदि इस पत्र के द्वारा आपके भीतर सुबुद्धि का उदय हो गया तो न तो भविष्य में आनेवाली आपकी पत्नी की वह दशा होगी जो मेरी हुई है और न वह अकालमृत्यु का ही ग्रास बनेगी।

मैंने अपने सोलह वर्ष के जीवन में बड़े-बड़े दुःख झेले हैं। किसके कारण झेले हैं, यह भगवान् जाने। लेकिन एक बात मैं अवश्य कहूँगी—लाज छोड़कर, और बड़ों की मर्यादा छोड़कर कहूँगी—कि यदि कोई उस दुःख का जिम्मेदार था या कोई उसको मिटा सकता था तो वह मेरे प्राणनाथ—

मेरे देवता—आप थे। आपने मेरा हाथ पकड़ा और संसार ने आपको एक सुकुमार और अबोध बाला सौंपी; परन्तु आपने उसकी परवा तक न की; और आज मेरी यह दशा है कि मेरे प्राण-पखेरू उड़ना चाहते हैं, मेरी जीवन-लीला समाप्त होना चाहती है।

क्या आपको वह समय याद है जब मैं आपके यहाँ आई थी? स्नेही माता-पिता की लाड़ली होने पर भी उनकी चिन्ता छोड़कर मैं आपके लिए विकल रहती थी। यही नहीं, विवाह से पहले भी पाठशाला जाते हुए यदि मेरी नजर आप पर पड़ जाती थी तो मेरे हृदय में हलचल मच जाती थी। मैं सोचती थी कि वह दिन कब आयेगा जब मैं आपसे मिलूँगी और आपकी सेवा करके अपने जीवन को सफल बनाऊँगी? लेकिन विवाह के कुछ दिन बाद ही आपको मुझमें अनेक दोष दिखाई देने लगे। आपने मेरे ऊपर यह लांछन लगाया कि मैं आपका ध्यान नहीं रखती। क्या ऐसा भी होता है? हिन्दू-समाज की दृष्टि से पति और प्रभु में पति का स्थान ऊँचा है। बचपन से ही छोटी-छोटी बालिकाएँ पतिदेवता की पूजा करती हैं। अन्तर केवल यह है कि वह देवता देवाधिदेव ईश्वर की अपेक्षा आडम्बरप्रिय तो अधिक होता है, पर उसमें भक्त-वत्सलता उतनी नहीं होती जितनी कि ईश्वर में।

आप जानते हैं कि जब मैं आपके यहाँ आई तब कितनी छोटी थी। एक महीने पहले तक मैं पाठशाला जाती थी और एक भोली हरिणी की भाँति स्वच्छन्दता से खेलती-कूदती थी। सास का रोब और पति की गुलामी के शब्द भी मेरे कान में

नहीं पड़े थे। छः महीने में ही मेरा मन इतना भर जायगा, मेरा हृदय इतना घायल हो जायगा, इस बात का मुझे स्वप्न में भी ख्याल न था। आते ही मेरे मन को भले-बुरे ताने क्यों दिये गये? यदि मैं कुछ करती या कहती थी तो उस प्रसंग में मेरे मा-बाप को क्यों खींचा जाता था? यदि मुझे कुछ नहीं आता था तो सासजी का तो फर्ज था कि वे मुझे सिखातीं। क्या मैं राक्षसी हूँ? क्या पुत्र में ही मा-बाप के प्रति प्रेम या सम्मान होता है? क्या प्यारी पुत्री को अपनी जननी और पिता के प्रति तनिक भी प्रेम नहीं होता? यदि आपसे कोई 'तेरी मा, तेरा बाप और तेरे बाप-दादे' जैसी बात कहे तो आप कहनेवाले को तमाचा मार दें; लेकिन एक भोली बालिका को अपने मा-बाप पर पड़ती गालियाँ सहनी पड़ती थीं। मन विकल होता, पर सँभालना पड़ता, हृदय रोता, पर समझाना पड़ता।

दो-तीन महीने में कड़ा कलेजा करके यह सब सुनने की आदत डाली तो एक नया ही गुल खिला। प्रियतम! तेरह वर्ष की मैं क्या जानूँ? दूसरे परिवार में पली हुई नादान लड़की को आपके रीति-रिवाज कैसे आते? जैसे आपकी बहन आपकी मा की लाड़ली है वैसे ही मैं भी अपनी मा की लाड़ली थी। मेरे कोमल अंगों का महत्त्व उसके लिए था। लेकिन आपको क्या? आपके यहाँ तो यह हाल रहा कि बीस वर्ष की लड़की के सुकुमार अंग तो तनिक से काम से थक जाते और तेरह वर्ष की बहू को सारे घर का काम करना पड़ता।

क्या हिन्दू-समाज में सास और पति के हृदय में तनिक

भी न्याय की भावना नहीं होती ? मेरा भी मनुष्य का शरीर था—कुछ लोहा-लक्कड़ नहीं था। फिर सारे दिन की मिहनत-मजूरी के बाद आपकी पति के रूप में भी क्या आवश्यकता ?

मैं जीवन भर चुप रही; पर अब बोलूँगी। क्या आपको पता नहीं था कि मैं भी नादान और कमजोर बच्ची थी ? दिन भर कामधन्धे में पिसती, न सोती, न बैठती। आप बॉलबैट खेलकर आते, आफिस हो आते तो क्या हुआ ? मैं क्या घर में सोती रहती थी ? सारे दिन मजदूर की तरह परिश्रम करती, बात-बात पर गाली खाती, सारे घर की जूठन से पेट भरती, रात-दिन बेचैनी में जीवन बिताती और थकी-माँदी दो प्रेम-भरे शब्दों की लालसा से आपके पास आती तो आपसे प्रेम का एक शब्द भी न बोला जाता। कोई साधारण-सी चीज माँगी जाती तो उसे लेकर तुरन्त हाजिर हो जाती और कहीं तनिक भी देर हो जाती तो आपकी गालियाँ सुननी पड़तीं। मर्द होते हुए भी आपके मजबूत पैर आफिस में बैठे-बैठे थक जाते तो उन्हें अपने निर्बल हाथों से दबाती और यदि आपको पसीना आ जाता तो काँपती कमर से आधी रात के समय खड़े होकर पंखा झलती। उस समय आपके मन में यह भी नहीं आया कि यह आपकी अपेक्षा कहीं अधिक कोमल बाला कैसे इस शारीरिक दुःख को सहन करती है ! लेकिन आता कहाँ से ? गुलाम जो ठहरी।

बहू तो घर की एक बिल्ली है। बिल्ली क्यों, बिल्ली भी उससे अच्छी है; क्योंकि वह निश्चिन्तता से सोती और दो वक्त आराम से खाती तो है। मर्दों को हमारे दुःख का क्या पता।

है ? कितने ही दिन ऐसे गुजरे हैं कि सारे दिन लगातार काम करते-करते पेट की नस-नस दुखने लगी है और सोने की तो क्या बैठा भी नहीं गया है। ऐसी हालत में भी आपकी सेवा की है और यदि किसी समय चुपचाप जैसे-तैसे सोना चाहा है तो आपकी गरजती आवाज, कड़ी धमकी और कभी-कभी दो-चार थप्पड़ भी खाने पड़े हैं और आँसू बहाना तक पाप हो गया है।

पीहर जाने की मनाही, सास का सदा का कोप, आपका हमेशा का स्वामीत्व—अत्याचारी और निरर्थक स्वामीत्व—यह सब पन्द्रह वर्ष की लड़की को आपके कारण सहना पड़ा। ऐसी अवस्था में मेरे जैसी हजारों जो कुछ करती हैं वही मैंने भी किया।

एक दिन गलती से मैंने अपनी मा से यह सब कह दिया। आपकी मा को उसकी खबर लग गई और उन्होंने बात का बतंगड़ बनाकर आपके कान भर दिये। आपने उस रात को मुझे मारा। क्या वह दिन याद है ? उस दिन मैं तकिये में मुँह छिपाकर बुरी तरह रोई थी और मैंने मृत्यु की कामना की थी। पुराने ढंग की स्त्रियाँ—नदी से पानी भर कर लानेवाली हृष्ट-पुष्ट शरीरवाली और सारे दिन दूता-चुगली करके दिन बितानेवाली कूढ़ मगज और नाममात्र की अबलाएँ—यह सब सह लें तो भले ही सहलें लेकिन पढ़ी-लिखी और सुकोमल शरीर तथा हृदय की आधुनिक बालाएँ यह कैसे सह सकती हैं ?

यदि आपने खाने-पीने की सुन्दर व्यवस्था करनेवाली

दासी पर की जानेवाली कृपा की अपेक्षा मेरे प्रति तनिक भी स्नेह दिखाया होता, यदि तनिक भी मेरी परवाह की होती और मेरे प्रति तनिक भी सहिष्णुता या न्याय का व्यवहार किया होता तो संसार की दृष्टि में तो आप मेरे शरीर के ही स्वामी होते परन्तु मैं आपको अपने अन्तर का प्रभु बनाती, आपके जीवन-पथ पर पुष्प बिछाकर आपको अनन्त सुख का अनुभव कराती। लेकिन मेरे मन की मन में रह गई। आपके पल्ले पड़कर न न्याय मिला, न स्नेह, न सुख। मेरे अन्तर ने रिस-रिसकर शरीर सुखा दिया और अन्त में आज मैं आपके शब्दों और कृत्यों से ही मर रही हूँ।

एक दिन तो आपको स्वार्थ छोड़कर दूसरी बात करनी थी। एक क्षण तो शुद्ध प्रेम का आस्वादन कराना था। एक बार तो खाकर पूछना था कि खाने को कुछ बचा है या नहीं। एक दिन तो साथ बैठकर कुछ सरसता और उच्च विचारों का अनुभव कराया होता। लेकिन यह होता कैसे? खा-पीकर मौज उड़ानेवाली जिन्दगी में ऐसे विचार कहाँ से आते? सच्ची पतिव्रताएँ अगले जन्म में भी वही पति माँगती हैं। मैं भी माँगूँ लेकिन क्या आपमें वैसे गुण हैं? उन सतियों के पति भी वैसे ही थे। इस जन्म से छूटने के बाद प्रभु आपका साथ न दे।

सासजी से कहना कि फिर कोई शिक्षित स्त्री न ले आवें।

शामलशाह का विवाह

प्रिय पाठक ! यदि तुम जरा धीरे से ऊपर का नाम पढ़कर, विद्वत्ता के व्योम में विहार करते हुए महाकाव्य की आशा रखते हो, कविरत्न नरसिंह के पुत्र का इतिहास जानने के लिए लालायित हो और भक्ति का आनंद लेकर ईश्वर का नाम सुनने के लिए उल्लसित हो तो मेरा लेख पढ़ना बन्द कर दो।

मुझे न तो विद्वानों में अपनी गिनती करानी है, न बेचारे गरीब शब्दों का सत्यानाश करना है और न कवि होकर ऐसे अँधेरे में पहुँचना है, जहाँ कि रवि भी नहीं पहुँचता। साथ ही मुझे भक्त के रूप में स्वर्ग जाकर तेंतीस कोटि देवताओं के दर्शन करके तथा उन्हें अहर्निश प्रणाम करके व्यर्थ परेशान भी नहीं होना है।

मुझे तो एक सीधी-सी बात कहनी है। लेकिन वह बात सीधी-सी भले ही हो, श्रेष्ठता में किसी प्रकार भी कम नहीं है। क्या नरसिंह महता के पुत्र ने पुण्य किये थे और

मेरे शामलशाह ने पाप ? कदापि नहीं । ये प्रजातंत्र के दिन हैं । जब एक गरीब भिखारी अमारों के बराबर माना जाता है और जब शराब पीकर लड़खड़ाते मजदूरों की विचार-शक्ति के ऊपर से ग्लेडस्टन जैसों की योग्यता का निर्णय किया जाता है तब मेरे शामलशाह नरसिंह महता के समान क्यों नहीं हो सकते ?

पिछले माह के महीने में मैं बम्बई से अहमदाबाद जा रहा था । किसलिए जा रहा था, यह बताना बेकार है । गाड़ी में मेरे साथ मेरा एक पुराना मित्र भी था । बहुत देर तक तो हम गप्पें मारते रहे और नई-पुरानी बातों की चर्चा करके हँसते रहे । मित्र रुई की दलाली करता था इसलिए उसके कपड़े ऐसे न थे जो किसी से घटिया हों ।

धीरे-धीरे रेलगाड़ी एक स्टेशन के पास पहुँचने लगी और मेरे मित्र में अद्‌भुत परिवर्तन होने लगा । बगले के पंख जैसी चौड़ी किनारी की धोती, खड़खड़ाता तनीदार अँगरखा, जरी की किनारी का दुपट्टा और लाल कुसुंभी पगड़ी एक-एक करके निकले और गांडा भाई के शरीर पर शोभा देने लगे ।

"क्यों गांडा भाई ! जैसे साँप केंचुली उतारता है वैसे तुम भी ?"

"हाँ भाई ! इस गाँव के सेठ शामलशाह का विवाह है । मैं उसका आढ़तिया हूँ इसलिए बिना इसके क्या कहीं काम चल सकता है ?"

"तुम भी चलो न ।"

"कौन, मैं ?" आश्चर्य से मैंने पूछा । "मैं तो तुम्हारे

सेठजी को जानता भी नहीं। मैंने तो उनका नाम भी आज ही सुना है।"

इसमें क्या बात है? सेठजी ने तो सबसे कहा है कि मित्र-मण्डली के साथ आना। चलो तो सही, जरा मजा रहेगा। अहमदाबाद में ऐसा क्या काम है?

"नहीं भाई। काम तो कुछ नहीं है पर बेकार पराये घर——"

"अरे भले आदमी पराया और अपना क्या? कैसी बेतुकी बात है? आज शाम को बैल-लग्न है। लग्न देखकर सवेरे चले जाना।"

बैल-लग्न क्या होता है, मैं यह सोच ही रहा था कि इतने में स्टेशन आ गया। गांडा भाई को लिवानेवाले भी आ गए।

"रणछोड़ भाई! तुम्हें मेरी कसम है। सेठजी को पता चला तो बुरा मानेंगे।" गांडा भाई ने कहा। आखिरकार मैंने हाँ कह दी और बिना निमंत्रण के शामलशाह के विवाह का आनन्द लेने उतर गया।

पोटलियाँ उतारी और हम स्टेशन से बाहर आए। "यह गाड़ी आपके लिए है जी।" कहकर लिवाने आनेवाले आदमी ने एक छोटी-सी, खुली गाड़ी दिखाई। उसमें चार आदमी पहले से बैठे हुए थे। मुझे चिन्ता हुई कि हम दोनों और गाड़ीवाला कहाँ बैठेंगे? अन्त में हम सातों आदमी जैसे-तैसे उसमें भर गए। गाड़ीवाले ने हाथ में पेनियाँ ली और बैल की पूँछ मरोड़ी। "तेरा धनी मर जाय" के शुभा-

शीर्वाद से गाड़ी आगे बढ़ी। हम लोग घिचपिच बैठे थे तो कोई बात नहीं थी लेकिन थोड़ी-थोड़ी देर में रास्ते की दचकियों के कारण हम एक दूसरे की गोदी में जा गिरते और खिसककर नाक पर आ जानेवाली पगड़ियों को जैसे-तैसे ठीक करते।

होते-होते मेहमानों के उतरने की जगह आ गई और हमारी गाड़ी खड़ी हो गई। गाड़ीवाला हमें वहाँ उतारकर चला गया। लिवाकर लानेवाला तो कभी का अन्तर्धान हो चुका था। इसलिए हम लोग दोनों हाथों में पोटलियाँ लिए चारों हाथों से अगवानी के लिए आनेवालों की बाट देख रहे थे और बिना यह जाने कि किधर जाना है, किंकर्तव्य-विमूढ़-से खड़े हुए थे। थोड़ी-सी देर में वाड़ी[१] में कई लोग रेशमी धोती और पगड़ी पहने आए और गए लेकिन कोई भी जान-पहचान का न निकला।

"गांडा भाई! ऐसे कब तक तपस्या करनी पड़ेगी? मेरे तो हाथ रह गए। चलो तो सही जरा अन्दर।"

"हाँ, चलो", कहकर मुझे निमंत्रित करके लानेवाले उपेक्षित-से गांडा भाई और मैं दोनों वाड़ी के भीतर घुसे। वाड़ी में घुसते ही देखा कि नीचे के खण्ड में एक झूले पर

१—गुजरात में विवाहादि प्रसंगों पर प्रीतिभोज तथा अन्य कार्यों के लिए चौकवाला एक बड़ा घर होता है, जिसका उपयोग सब लोग कर सकते हैं। जैसे हमारे यहाँ बड़ी धर्मशाला को बरात इत्यादि के ठहराने के लिए ले लिया जाता है, ऐसे ही गुजरात में वाड़िया होती हैं, जहाँ ये मंगलकार्य होते हैं।

छः-सात सज्जन "हा-हा, ही-ही" कर रहे हैं और तान अलाप रहे हैं। चार-पाँच जने जमीन पर चटाई बिछाए दोपहर के सोने की तैयारी कर रहे थे। हमने वहाँ पोटलियाँ रखीं और कोई एकान्त स्थान खोजने लगा। बगल की छोटी-सी कोठरी में पाँच आदमियों का सामान पड़ा था। ऊपर की मंजिल पर कोई बीसेक सज्जन—कुछ गप्पें मारते हुए तो कुछ झोके खाते हुए—पड़े थे। ऐसा लगता था जैसे वाड़ी में गिजाइयाँ निकल आई हों। एक आदमी के लायक सोने की जगह मिलना भी मुश्किल था।

हारकर हम लौटकर फिर नीचे की कोठरी में आए। हम इधर से उधर मारे-मारे फिर रहे थे पर किसी को हमारी खबर लेने की चिन्ता न थी।

"गांडा भाई! मुझे तो ऐसा लगता है कि यहाँ सब मेरे जैसे ही किराये के लोग हैं।"

"हाँ, भाई।" गांडा भाई बेचारा क्या कहता?

"तो एक काम करें! इस कोठरी में ही डेरा डाल दें। सभी किराये के हैं इसलिए पूछनेवाला कोई नहीं।" कहकर मैंने एक का बिस्तर, दूसरे का ट्रंक और तीसरे की खुर्जी एक ओर फेंक दी और अपने लिए जगह कर ली। बाहर बैठे हुए सज्जन चुपचाप भीतर आए और हमारी हिम्मत देखकर तथा हमें अधिक-अधिकारी समझकर रास्ता कर दिया। उसके बाद मैंने और गांडा भाई ने सलाह की और पेट-पूजा के लिए भी यही तरीका अख्तियार किया। एक आदमी को पकड़ा और थोड़ी दूर, जहाँ भोजन का

प्रबन्ध था, ले जाने के लिए कहा। सामने कुए पर नहाये और जीमने बैठे।

कितने ही जीमकर चले जानेवालों की जगह पर उकड़ूँ बैठकर बड़े मजे का ठण्डा भात, क्या वस्तु है, यह समझ में न आनेवाली बिल्कुल पानी जैसी दाल, सर के बाल खड़े कर देनेवाला तेज मिर्चोंवाला साग और हीक आनेवाले घी से चिपचिपे लड्डू खाकर हम निश्चिन्त हुए। उसके बाद गांडा भाई मुझे सेठजी के पास ले गए।

शामलशाह स्थूल, काले और गोलमटोल सज्जन थे। पसीने और उबटन के मिश्रण से ऐसा लगता था जैसे वार्निश कर दी गई हो। गहनों की पोटली खाली करके उनके गले, हाथ और कान का श्रृंगार किया गया था। उनके मुख पर प्रसन्नता झलक रही थी और वे हाथ में शीशा लिए मूछों की छानबीन कर रहे थे। नाई अभी-अभी उनकी मूछों को खिजाब लगाकर गया था।

"ओ हो! कौन गांडा! आ न भाई! तेरी ही कसर थी।"

"नहीं जी! कहीं ऐसा हो सकता है? मैं तो रह ही नहीं सकता था। ये हैं मेरे मित्र रणछोड़ भाई!"

"आइए, आइए! अच्छे आदमी हैं कहाँ दुनिया में? इस समय तो भगवान् की कृपा है। पिछली बार जब मेरा विवाह हुआ था—मुन्ना की माँ के साथ तब तो बारह आदमी भी नहीं थे।"

"ऐसे जीने से तो मरना ही अच्छा।" जैसे डाक्टर मरे हुए मरीज के बारे में बात करता है ऐसी उपेक्षा से अपनी पहली पत्नी को याद करते हुए सेठ जी बोले।

"ठीक है सेठजी ! लग्न शाम को है न ?"

"अरे, इस समरथ ज्योतिषी से कह-कहकर हार गया। न जाने हर बार ऐसी देर क्यों होती है ?"

समरथ ज्योतिषी काठ के उल्लू की तरह दूर बैठे दक्षिणा गिन रहे थे। उन्होंने सेठजी की बात सुनकर सर ऊपर उठाया और बोले—"यह भी क्या कोई मेरे हाथ की बात है ? फिर भी अब की बार ध्यान रखूँगा। इस बार जो भूल हो गई सो हो गई।"

"क्यों रे समरथ ! यह पाँचवीं बहू तो आ रही है। अभी कितनी और बाकी हैं ?"

"जिजमान ऐसा न कहो। ललाट के लिखे लेख क्या कभी झूठ हुए हैं ?" जरा हँसते हुए समरथ ज्योतिषी बोले। इसी बीच बाहर सूरत से मँगाया हुआ बेंड आ गया और हमने घंटे भर के लिए छुट्टी ली।

"गांडा भाई ! सेठजी की उम्र क्या है ?"

"पचास या उससे एक-दो वर्ष ऊपर—इससे ज्यादा नहीं। इनके बाप तो साठ वर्ष की उम्र में घोड़े पर चढ़े थे।"

अभी शामलशाह अपने बाप की बराबर भी नहीं पहुँचे थे तो उनसे बढ़ने की बात कहाँ से होती। लेकिन ऐसा लगता था कि यदि इस स्त्री को, भगवान न करे, कुछ हो गया तो सेठजी अपने बाप-दादे के सम्मान की रक्षा किये बिना न रहेंगे।

"बहू की उम्र क्या है ?" मैंने पूछा।

"होगी कोई पाँच-छः वर्ष की। यहीं के देसाई की लड़की है। खानदान बड़ा ऊँचा और पैसेवाला है।"

"अच्छा !" कहकर मैं चुप हो गया। बाड़ी में आकर हम लोगों ने कपड़े बदले। मैं भी जरा दुपट्टा-वुपट्टा डाटकर सेठजी की बरात के अनुकूल सज गया। उसके बाद हम हवेली में गये। वहाँ बरात के जुलूस की तैयारियाँ हो रही थीं। किसी नाटक-कम्पनी को नीलाम में खरीदी हुई, जीर्ण-शीर्ण जरी की पोशाक में शोभित बाजेवाले, चाहे जिस बहाने ज्यादा से ज्यादा जोर की कान फोड़नेवाली आवाज पैदा करके अपनी होशियारी दिखा रहे थे। दूसरी तरफ स्वदेशी बेंड था। आठ-दस तासेवाले मस्त होकर बजा रहे थे। दो हिजड़े तीन शहनाइयों की तीखी आवाज पर मन-चाही ताल पर नाच रहे थे। उस तरफ लोगों की भीड़ अधिक देखकर मुझे अनुभव हुआ कि अभी अपना देश-प्रेम जीवित है—अपना ही संगीत अपने को अच्छा लगता है।

इतने में एक पास खड़े हुए सज्जन बोले—"शाबाश ! सेठजी ने अच्छा किया। चालीस कोस दूर से तो हिजड़े बुलाये हैं। शाबाश !" सेठजी की हवेली के छोटे से आँगन में जब यह समा बँधा हुआ था तब हम हरेक घर के सामने से बहती और दुर्गन्ध देती गंगा-जमुनाओं के दर्शन करते पड़ोसी के चबूतरे पर बैठे थे।

सेठजी कुछ विधियाँ करते जान पड़ते थे क्योंकि रह-रहकर "हो-हाँ-हाँ" की ध्वनियाँ आती थीं। धर्म के अनुसार सेठजी विवाह करने लायक हो चुके हैं, इसका विश्वास हो जाने पर और उतने पैसे मिल जाने पर विधि पूरी हुई। जो

कुछ थोड़े बहुत आदमी भीतर थे वे बाहर निकले और दूल्हा राजा के लिए घोड़ा लाया गया।

घोड़ा ऐसा लगता था जैसे बड़ी मिहनत से ढूँढ़कर लाया गया हो। वह अपने गुणों में सिकन्दर के 'ब्युसे फेलस' या नेपोलियन के जगत्-प्रसिद्ध सफेद घोड़े को भी शरमानेवाला था। वह डॉन किक्झोट के "रोझीनांत" से भी बढ़ा-चढ़ा लगता था। उसके एक आँख थी और दुर्बलता के कारण लटकते होठों से लगातार लार टपकती थी। उसकी पीठ पर साज और पैरों में घुँघरू थे। लेकिन काठी और खड़े होने के ढंग से ऐसा मालूम होता था जैसे अब मरा कि तब मरा। थोड़ी बहुत मक्खियाँ भी बेचारे को तंग कर रही थीं। फिर भी वह मानो शामलशाह जैसों के भार को वहन करने के गर्व में अपनी सूझती आँख को भी मीचे दृढ़ता, शांति और स्थिरता से खड़ा था।

सेठजी आए। मुँह में पान का बीड़ा, आँखों में काजल, भूगोल की भव्यतावाला किन्तु जरी के झंगे और पगड़ी से जगमगाता शरीर, मुँह पर मरवट और हाथ में नारियल। कैसा सौन्दर्य था! कैसी छटा थी! परदेशियों से कहो कि आओ और देखो—है तुम्हारे यहाँ कला का ऐसा आदर्श! हम चाहे जैसे हों पर हैं श्रेष्ठ के श्रेष्ठ।

सेठजी चबूतरे के किनारे खड़े हुए। घोड़े को चबूतरे के पास लाया गया। लेकिन कहा नहीं जा सकता कि घोड़ा सेठजी के स्वरूप को देखकर उन्हें काली माई समझकर चौंक गया था या पशुओं की वैवाहिक पवित्रता की भावना की

दृष्टि से सेठजी के कृत्य को घृणित समझकर सुधारों का समर्थक हो गया था या सन्यास की अवस्था में पहुँचकर सेठजी को भी उसकी सूचना देना चाहता था। जो कुछ भी हो पर जैसे ही सेठजी चबूतरे से पैर उठाते कि घोड़ा फुर्र करके दूर हट जाता। बेचारे सेठजी को तो केवल विवाह के समय ही घोड़े पर बैठने का काम पड़ता था इसलिए घोड़े की दगाबाजी से डरकर तुरन्त पैर पीछे कर लेते। सेठजी ने एक बार-दो बार यहाँ तक कि सात बार घोड़े को मनाने का प्रयत्न किया पर वह जहाँ का तहाँ रहा। हारकर दो आदमियों ने अश्वराज को मुँह की ओर से पकड़ा, दो पूँछ की देखभाल करने के लिए पीछे की ओर खड़े हो गये और सेठजी से कहा—"चलिए सेठजी ! अब चिन्ता की कोई बात नहीं।"

सब लोग स्तब्ध होकर देखने लगे। जिस समय अर्जुन ने मत्स्यवेधन किया था उस समय राजा द्रुपद के दरबार में भी इतनी स्तब्धता देखने को न मिली होगी। निश्चिन्त होने की बात सुनकर सेठजी ने हिम्मत को दोनों हाथों से पकड़ा। अरे हाँ, लेकिन हाथ तो नारियल से घिरे थे। सेठजी ने पैर उठाया—सदा की अपेक्षा कहीं अधिक—और उसे वृद्ध अश्वराज की पीठ पर रखा। परन्तु घोड़े की जात और उसमें भी पुराना, फिर क्या पूछना है ? झट घूम गया। मुँह सेठजी की ओर किया। कान खड़े किए। सेठजी घबराये, उनके प्राण से निकल गए। पीछे हटे और हाथ जोड़कर प्राण बचाने के लिए नारियल छोड़ दिया। पीछे हटे, तो अचानक पगड़ी दीवार से टकराई, खिसकी, आगे आई और गिर गई।

दूल्हा राजा मुकुटरहित हो गए। लोगों में हाहाकार या फिर ह-ह-हकार मच गया। सेठजी ने सर ऊपर उठाया, दयार्द्रता से लोगों की ओर देखा, घृणा से घोड़े की ओर देखा, गर्व से कीचड़ में पड़ी पगड़ी की ओर देखा, अकड़ और गुस्से में आकाश की ओर—ईश्वर की ओर देखा। कह नहीं सकते कि उन्हें क्या दिखाई दिया पर एकदम होंठ बढ़े और उनके कण्ठ से अखिल ब्रह्माण्ड तक पहुँचनेवाला स्वर निकला—ऐं-ऐं-ऐं।

सब लोग सेठजी से चिपट गए। बहुत-सों ने मुँह में रूमाल या दुपट्टा दिया। मुझे लगा कि वे शर्मिंदा हैं। सेठजी क्यों रोये, यह कोई नहीं समझा। सेठजी ने रोते हुए स्वर में कहा कि उन्हें मुन्ना की मा याद आ गई। इसके बाद बड़ी मुश्किल से सेठजी को सँभाला गया और चार मजबूत बरातियों द्वारा उठाकर घोड़े पर रख दिया गया। मुझे ऐसा लगा जैसे घोड़े को सेठजी से कुछ दुश्मनी हो गई हो। उसकी आँखें बुढ़ापे में भी शरारत से भरी दिखाई दीं।

चलते-चलते सेठजी के कमजोर कन्धों पर एक तलवार और रख दी गई। कहीं घोड़े से गिर न जाऊँ, कहीं म्यान से निकलकर तलवार न लग जाय, कहीं हाथ में से नारियल न छूट पड़े—ऐसी अनेक चिन्ताओं में दूल्हा राजा जैसे-तैसे घोड़े पर बैठे और अन्त में बेंड की आवाज और हिजड़ों के नृत्य से ताल-बद्ध होकर बरात निकली।

होते-होते हम बेटीवाले के घर आये। बेटीवाले का घर जरा निचाई में था इसलिए वहाँ जाने के लिए एक ढाल

पर से उतरना पड़ता था। तासेवाले अपनी धुन में, हिजड़ा अपने गाने में और बराती अपनी मस्ती में ढाल से नीचे उतरे। उतरे और फिर पीछे लौट आये। देखा तो जहाँ से ढाल शुरू होता था वहाँ पहाड़ पर खड़े फरिश्ते की तरह सेठजी और उनका घोड़ा ठिठके खड़े थे। ऐसा लगता था जैसे घोड़ा उपद्रव करने की तैयारी कर रहा हो और उसने सर्वसम्मति से ऐसा करने का निश्चय किया हो। वह निश्चलता से एक ही पग ढाल पर जमाए—दुनिया को दबाता और सेठजी को घबराता—खड़ा था। अरे घोड़े! क्या तुझे भी जमाने की हवा लग गई?

दो-चार आदमी दौड़े और घोड़े को पकड़कर पीछे खींचने लगे लेकिन वह टस-से-मस होने वाला न था। सेठजी कहते—"उतर पड़ूँ?" लोग कहते—"भला ऐसा भी कहीं हो सकता है?" दो-तीन आदमियों ने लगाम पकड़ी और एक ने घोड़े को पीछे से दो-तीन चाबुक जमाए। घोड़ा हिम्मत हार गया। उसने उपद्रव करने का इरादा छोड़ दिया और त्याग-वृत्ति से—मार न सह सकने के कारण—चलना स्वीकार किया। डग भरे—एक, दो, तीन। ऊपर बैठे सेठजी घबराये और ढाल के कारण घोड़े की गर्दन पर झुक गए। घोड़े के आगे के पैर काँपे। उसने खतरा मोल लेना ठीक न समझा और उसके आगे के पैर मुड़ गए। घोड़ा गिरा और गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से नीचे की ओर लुढ़कने लगा। नीचे हम लोग खड़े थे। घोड़ा और उसकी गर्दन से लिपटे सेठजी ऐसे सपाटे से उतरे कि अन्त में नीचे आकर ही रुके।

स्वार्थी बराती खड़े देखते रहे। उनके मन में यह विचार आया कि यदि पहले ही सहायतार्थ दौड़ पड़ें तो यह दृश्य फिर देखने को न मिलेगा। अन्त में सेठजी को उठाया गया। अब बेटीवाले का घर आ गया था इसलिए वे पैदल ही वहाँ पहुँचे।

दूल्हा राजा का स्वागत-सत्कार हुआ, समधिनें रिसाईं और अपनी पुरानी प्रथा के अनुसार दूल्हा राजा मण्डप में पधराये गए। लकड़ी के छोटे-से टुकड़े के समान श्वेत साड़ी में लिपटी कन्या को उसके मामा उठा लाये और वेदी के सामने बैठा दिया। श्लोक पर श्लोक पढ़े जाने लगे। दूर पर, जहाँ मैं खड़ा था वहाँ, समरथ ज्योतिषी पतीले में देखकर घड़ियाँ गिन रहे थे और चाहे जिस श्लोक की पंक्तियाँ मिलाकर सेठजी को "सावधान" कर रहे थे।

मुझे ज्योतिषीजी की स्थिति विचित्र जान पड़ी। उनकी आँखों में कुछ और ही चमक थी और उनकी जीभ लड़खड़ा रही थी। मुझे लगा कि ज्योतिषीजी महाराज ने विजया का सेवन किया है। दूर एक हरे-से पानी से भरे लोटे को देखकर इसका विश्वास भी हो गया। अवसर की महत्ता तथा महादेवजी को प्रसन्न करने की शुभ भावना से ज्योतिषीजी नशे में चूर थे। मैंने पानी से भरे पतीले को—जिसे ज्योतिषीजी एकाग्रदृष्टि से देख रहे थे—देखा परन्तु पानी में कुछ था ही नहीं। ज्योतिषीजी देख जरूर रहे थे पर वे उसमें पानी की घड़ी डालना भूल गए थे और भंग की तरंग में काल्पनिक घड़ियाँ ही गिन रहे थे। अन्त में ज्योतिषीजी ने थाली लेकर बजाई,

बाजे बजे, शामलशाह का गठ-बन्धन हुआ और उनकी लालसा पूरी हुई।

थोड़ी देर में भीड़ छटी तो मैं वेदी के पास गया। कन्या सो गई थी और उसकी मा उसे गोदी में लिए बैठी थी। सप्तपदी—हमारे शास्त्रों में वर्णित वह अमर प्रतिज्ञा, जिसकी महत्ता पर हमारे विवाह-संस्कार की पवित्रता की बुर्जियाँ चिनी गई हैं—की बारी आई। धार्मिक भावना ने मुझे पवित्र कर दिया। मेरा विवाह आठ वर्ष की अवस्था में हो गया था और घर वाली वही की वही थी इसलिए विवाह के समय मेरी क्या भावनाएँ थीं—इसका मुझे खयाल न था। इसका ज्ञान मुझे आज ही हुआ। सेठजी पट्टे के नीचे हाथ रख-रखकर क्या टेक कर उठे। लेकिन कन्या लाख कोशिश करने पर भी न जगी। हारकर उसकी मा उठी। लड़की को अपने हाथों में उठाया और सेठजी के साथ वेदी की परिक्रमा करने लगी। यों पवित्र सप्तपदी सम्पन्न हुई।

लिखने के लिए तो अभी बहुत है पर स्थान का अभाव है। बाहर आया तो देखा कि कपड़े या आवाज या हाव-भाव या शब्दों की मर्यादा और सौन्दर्य की परवाह किए विना, एक-एक बालिश्त लम्बा घूँघट काढ़े, चतुर ठकुरानियाँ समझी जाने के लिए, धीमे स्वर से गाती हुई स्त्रियाँ ऐसी लगती थीं जैसे भीलनें नशे में गाली बक रही हों। अब मुझे और कुछ देखने की अभिलाषा शेष नहीं थी। हम वाडी में गए। रात की गाड़ी का समय हो गया था इसलिए मैंने गांडा भाई से कहा कि अब मुझे जाने दो।

"लेकिन रणछोड़ भाई ! सेठजी से मिलकर जाओ नहीं तो उन्हें बुरा लगेगा और कल मुझसे लड़ेंगे ।"

"अच्छा भाई।" कहकर मैं लौटकर फिर बेटीवाले के यहाँ आया। सेठजी के बारे में पूछा तो पता चला कि वर-कन्या माता के कमरे में पूजा कर रहे हैं। लोग खाने-पीने की खटपट में थे इसलिए घर सूना-सा लगता था। मैं बताए हुए कमरे की ओर गया और वहाँ का हालचाल देखने के लिए खड़ा हो गया।

भीत को रँग कर माता बनाई हुई थी और उसकी पूजा करने तथा पंडितजी की झोली भरने के लिए चावल और गेहूँ की ढेरियाँ लगाई हुई थीं। उनके सामने सेठजी और नई सेठानी—जो अब जाग रही थीं—बैठे थे। पुरोहित कुछ लेने के लिए बाहर गया जान पड़ता था।

मैं अन्दर जाने के लिए आगे बढ़ा पर ठिठक गया। मुझे मर्यादा का विचार आ गया। सेठजी संवनन (Wooing) कर रहे थे—धीरे-धीरे छः वर्ष की लाड़ली कन्या का घूँघट उठा रहे थे। वह भीतर से "खीं-खीं" करके हँस रही थी। मैं देखता रह गया। कौन कहता है कि अपने यहाँ संवनन नहीं है।

मैं चित्रलिखित-सा खड़ा रहा और उस दृश्य को देखता रहा। सेठजी ने घूँघट उठाया और अपनी धुँधली तथा बुड्ढी आँख से कटाक्ष किया। सेठजी धीरे से सेठानी का आलिंगन करने बढ़े। उसने कहा—"न-हीं," और कुछ पीछे हट गई। सेठजी आगे बढ़े। सेठानी ने धमकी दी—"मा को बुला

लूँगी।" सेठजी ने हिम्मत नहीं हारी और "जरा ठहर तो सही" कहकर हाथ आगे बढ़ाया और सेठानी का चुम्बन लिया। सेठानी की तीखी आवाज गूँज उठी—"ओ मा! मा! यह बुड्ढा मुझे मारता है।"

क्या कहूँ? मैंने—रणछोड़ ने रण छोड़ा और चुप-चाप वहाँ से चल दिया। चलते-चलते दूर से औरतों की बैठी हुई आवाज कान में आई—

"इस दूल्हे का ब्याह न होगा, ब्याह नहीं होगा। हम जीत गए रे जीत गए।"

———

शकुन्तला और दुर्वासा

मुझ जैसी भाग्यशाली स्त्रियाँ बहुत कम होती हैं। अंग्रेजी की पाँच-छः किताबें पढ़ने के पहले ही डाक्टर विश्वनाथ के साथ मेरी शादी हो गई। उन्होंने हाल ही में डाक्टरी पास की थी और उनकी बुद्धि तथा वाक्चातुर्य को देखकर सबको ऐसी आशा थी कि वे शीघ्र ही अपना काम जमा लेंगे। जिस समय मैंने अपना हाथ उनके हाथ में दिया उस समय मुझे ऐसा लगा जैसे उन्होंने मेरे ऊपर कोई अद्भुत जादू कर दिया हो। मेरा जीवन उनमें ऐसा समा गया जैसे मैं उन्हें सोलह वर्ष से जानती होऊँ—जैसे उनका और मेरा पूर्व जन्म का घनिष्ठ सम्बन्ध हो।

तुरन्त मुझे सुसराल बुला लिया गया। मेरे ससुर की स्थिति बहुत गिरी हुई थी। वे एक सेठ के मुनीम थे और उनकी नमकहलाली पर खुश होकर ही उनके सेठ ने मेरे पति को पढ़ाया था। मुझे सास-ननद का कोई खटका नहीं था, मैं ही अपने छोटे से घर की गृहदेवी थी। मेरे डाक्टर

भी उस समय मेरे ही लिए चिन्तित रहते—मुझे पढ़ाने और योग्य बनाने में ही सुख मानते और मैं तो उनकी इतनी भूखी थी कि उनके बिना एक पल भी काटना दूभर हो जाता।

प्रैक्टिस भी अच्छी चलने लगी और मेरे सुख की सीमा न रही। दिन और रात हमें सुख ही सुख दीखता। बाधा थी तो बस एक और वह यह कि मेरे वृद्ध ससुर बुढ़ापे के कारण घर रहते थे। उनकी पुरानी रहन-सहन, गाँव की असंस्कारी भाषा में चाहे जो कुछ बकना, हमेशा गड़े मुर्दे उखाड़ने की उनकी आदत—सब मिलकर हमारे जीवन की तान को कुछ बेसुरा बना देते थे। वे सारे दिन यह रह गया, वह खुला पड़ा है, लकड़ियाँ नहीं फाड़ी गईं और झाड़ू बड़ी जल्दी टूट गई जैसी बातें कह-कहकर नाक में दम करते रहते थे। मैंने उन्हें कुछ प्रसन्न रखने की कुछ कोशिश की लेकिन मेरा मन सदा मेरे डाक्टर में रहता था इसलिए मुझे लगता कि न जाने क्यों यह बुड्ढा बेकार चिन्ता करता है। बाद में सच पूछो तो मैं भी उनकी ओर से लापरवाह हो गई। उन्हें दिन भर बड़बड़ाने देती। मुझे यदि किसी की परवाह हो सकती थी तो अपने डाक्टर की। उनके आगे वह बुड्ढा क्या था।

यदि जवानी में सुख मिल जाय तो मनुष्य की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहता! उस समय मैं किसी बड़े से बड़े राजा को भी कुछ नहीं समझती थी। मेरे पैर फिरकते रहते थे। सवेरे जरा देर से उठती, उलटा-सीधा काम करके खाना बनाती, दोपहर को पढ़ती और शाम को घूमने जाती। मेरे डाक्टर की आँखें भी मेरी ही ओर लगी रहतीं। बुड्ढा तो

पाँच बजे ही उठता और स्वयं जहाँ बैठता वहाँ झाड़ू देता। नौकर झाड़ता तो उसे अच्छा नहीं लगता, फिर मैं क्या करती? इसके बाद वह ठंडे पानी से नहाता और फिर पूजा पर बैठता तो दोपहर को बारह बजे ही उठता। दोपहर को छोटा-मोटा हिसाब लिखता। शाम को लाठी लेकर बाहर निकलता और बिलकुल रात होने पर ही घर आता।

और सब बातों में तो बुड्ढा अच्छा था पर उसकी जीभ से मैं परेशान हो गई। वह कोई न कोई बाधा खड़ी करता रहता। उसमें भी उसकी पूजा और घूमना ये दो चीजें बड़ी दुखदायी थीं। मेरे डाक्टर जब खाते तो मुझे उनके साथ न खाकर एक घंटे तक बाट देखनी पड़ती और तब कहीं बुड्ढे की पूजा खत्म होती। रात को जब तक वह घूमकर न आ जाता, मुझे बैठे रहना पड़ता। हम सोचते, न जाने कब तक यह बुड्ढा हमारे सुख में बाधा डालता रहेगा? सच पूछो तो एक बार तो मैंने कह दिया कि कब यह बुड्ढा मरे और कब हमें शांति मिले। एक तो सुख का सुनहला अवसर निकला जाता है और दूसरे यह बेकार की पंचायत।

आखिर मेरे डाक्टर से भी न रहा गया। "बुड्ढे! यह क्या खटपट लगाई है? सारे दिन बड़-बड़ करते रहते हो। तुमसे चुप बैठा ही नहीं जाता। बेचारी कब तक बैठी रहे?" डाक्टर ने जरा बुरी तरह से फटकारा। लेकिन बुड्ढे की आदतें भी ऐसी प्राणलेवा थीं कि वह भी बेचारा क्या करता? बुड्ढा उस वक्त तो कुछ बोला नहीं। दूसरे दिन मेरे पास आया।

"लक्ष्मी ! बेटी आज से तू पहले खा लिया कर ।"

"क्यों ?"

"आज से मुझे जप करना है इसलिए मुझे बहुत देर हो जाया करेगी । तू कहाँ तक बैठी रहेगी ?" बुड्ढे की आवाज में करुणा थी और आँखों में आँसुओं की एक अदृश्य झलक ।

"नहीं ससुरजी ।"

"बेटी ! जैसा मैं कहूँ वैसा कर ।"

मैं भी कुछ नहीं बोली । चलो, पिण्ड छूटा । उस समय मेरे डाक्टर के पिता की स्थिति उस गाय की सी थी, जिसके लिए अलग अनाज निकालकर रख दिया जाता है । इसलिए एक बार मेरे मन में यह विचार भी उठा कि क्या जिस व्यक्ति के कारण वे पढ़-लिखे हैं उसके लिए खाना उठाकर रखना उचित है ? लेकिन डाक्टर ने मेरी उलझन दूर करते हुए कहा—"तू खा ले । कोई बात नहीं । चल, आज बहुत दिन बाद साथ बैठकर खावें ।" हमने साथ बैठकर खाया और बहुत दिन की लालसा पूरी की । उसके बाद मैं बुड्ढे के लिए खाना रखकर ऊपर चढ़ गई ।

बड़ी देर तक मेरा मन दुखी रहा । मेज पर पड़ी एक किताब लेकर देखने लगी । कालिदास का "अभिज्ञान शाकुन्तल" नाटक था । दुर्वासा के शाप का प्रसंग था । दुष्यन्त के विरह में लीन शकुन्तला अतिथि के रूप में आये हुए दुर्वासा का सत्कार करना भूल जाती है । दुर्वासा क्रोध में बेचारी शकुन्तला को शाप देते हैं—"हे अतिथि का निरादर करनेवाली—

तपोधनी मैं जात कहायो । तैं नहिं जान्यो सन्मुख आयो ॥
जाके ध्यान एकटक लागी । सुधिबुधि तैं सब ही की त्यागी ॥
सो जन युवति भूलि तुहि जाई । आवे सुरति न कोटि उपाई ॥
जैसे मदमातो नर कोई । प्रथम बात कहि भूल्यो होई ॥"[१]

शकुन्तला कैसी मूर्ख थी?—मने सोचा । जरा लापरवाही के लिए कितना भोगना पड़ा ? पति ने निकाल दिया और अन्त में पति मिला भी तो बुरी तरह भटकने के बाद । मैं तो कभी ऐसा न करूँ ।

उस दिन से उस बुड्ढे का तो काँटा ही निकल गया । उसने बोलना तक बन्द कर दिया । सवेरे वह अपने आप उठता, नहाता, पूजा करता, मेरे द्वारा उठाकर रखा हुआ खाना दो बार खा लेता और चुपचाप घर में पड़ा रहता । हमें और क्या चाहिए था । कैसा मजा था ! कैसा सुख था ! एक बार मुझे तरस आया कि बेचारा बुड्ढा चुपचाप ही पड़ा रहता है लेकिन अपने चरम सुख के आगे क्या मैं उसके लिए चिन्ता करने बैठती ?

बुड्ढा कुछ कमजोर होने लगा । मैंने सोचा, होगा, बुढ़ापा है ।

जब मेरे मुन्ना हुआ तो बुड्ढा कुछ बोलने लगा । मेरा मुन्ना बड़ा ही सुन्दर और अलौकिक था पर जरा रोता ज्यादा था । बुड्ढा उसी से चिपट गया । सारे दिन नाक पर चश्मा चढ़ाए, भागवत की पोथी लिए उसका पालना

१—राजा लक्ष्मणसिंह-कृत अनुवाद से ।

हिलाता रहता और उसके साथ गप्पें मारता रहता। मैं नई-नई मा हुई थी इसलिए मुझमें अनुभव की कमी थी। परन्तु बाद में बुड्ढा पंचायत करने लगा—"बेटी, लक्ष्मी, मुन्ना भूखा है। देख यह ठीक से नहलाया नहीं गया है।" लेकिन इस बार मेरे डाक्टर ने बात आगे न बढ़ने दी और एक दिन कह दिया—"बुड्ढे! उसकी मा तुम हो कि यह।" बुड्ढे ने उसके बाद कुछ भी कहना बन्द कर दिया।

हमारे सुख में तनिक भी बाधा नहीं पड़ी। सारे दिन मुन्ना को बुड्ढा ही रखता इसलिए मुझे तो छुट्टी ही थी। फिर हम चाहे जहाँ घूमें-फिरें। मैं नाटक देखने जाऊँ तो भी बुड्ढा रात के तीन बजे तक नीची गर्दन किए पालना हिलाता रहे।

हमारे सुख में फिर विघ्न आया। रामदास फौजदार की बदली हमारे गाँव में हुई। वह मेरे डाक्टर का पुराना मित्र था। वह आया और मुझसे मेरे डाक्टर को छीन ले गया। कुछ दिन में उनकी पुरानी मैत्री सुदृढ हुई। डाक्टर दवाखाने न जाते पर उसके यहाँ जाते। हमारा शाम का घूमना भी बन्द हो गया। धीरे-धीरे वे रात को भी देर से घर आने लगे। मेरा जी तो घबराने लगा। अपने डाक्टर के बिना मुझे चैन नहीं पड़ता था और मैं समझती थी कि उनका भी यही हाल होगा। लेकिन इस नये अनुभव ने मेरी इस धारणा को बदल दिया।

अब डाक्टर मेरे साथ बात न करते। हमारा संगीत, हमारा अध्ययन, हमारा हास-विलास—सब जाता रहा। मैं

क्या करूँ, यह समझ में नहीं आया। मुझे भय लगा कि कहीं ऐसा तो नहीं कि जितना सुख था उतना ही दुख आनेवाला हो? उसमें मुन्ना भी ऐसा ज्यादा रोनेवाला हो गया था कि मुझे तो वह भयंकर रोग से पीड़ित दिखाई देता था लेकिन मैंने धीरज नहीं छोड़ा। कोई बात नहीं महीने-दो महीने में मेरे डाक्टर फिर पहले जैसे हो जायँगे और मेरा सूर्य फिर उदय होगा।

एक दिन रात को दो बजे डाक्टर ने दरवाजा खटखटाया—मैंने खोल दिया। उन्हें देखते ही मैं हक्की-बक्की रह गई। उनकी आँखें फटी हुई थीं, कपड़े मैले-कुचैले थे और मुँह से मदिरा की दुर्गन्ध आ रही थी। मुझे चक्कर आ गया। ये मेरे संस्कारी और शिक्षित पति हैं! वे लड़खड़ाते हुए अन्दर आए और मेरा हाथ पकड़कर उखड़ी आवाज में गाने लगे—

'बैयाँ..........न पकड़..........मोरी।'

मैंने हाथ छुड़ा लिया—"डाक्टर! यह क्या? चलो ऊपर?"

'हट राँड़! क्या..........अरे हाँ..........बैयाँ न पकड़..........'

कहते हुए जैसे-तैसे ऊपर चढ़े और धड़ाम से जमीन पर गिर पड़े। मैं सर पकड़ कर बैठ गई और मेरे मुँह से चीख निकल गई। मेरे डाक्टर की यह अधोगति! हे भगवान्! आज एक महीना हो गया। दुःख से दबाई हुई भावनाएँ उमड़ने लगीं। एक घंटे तक रोई—"हे मेरे स्वामी! मैंने क्या किया है? मैं तो आपकी निर्दोष लक्ष्मी हूँ।"

सर ऊपर उठाया तो मेरी दृष्टि अपनी प्रिय पुस्तकों पर पड़ी। कितने रस के साथ मैं उन्हें अपने डाक्टर के साथ पढ़ती थी। मुझे कपकपी आ गई। एक पुस्तक के सुनहरे अक्षर पढ़े—'अभिज्ञान शाकुन्तल'। मेरा मन शकुन्तला की करुण दशा पर पहुँचा—दुर्वासा का शाप याद आया—

तपोधनी मैं जात कहायो। तैं नहिं जान्यो सन्मुख आयो॥
जाके ध्यान एकटक लागी। सुधि बुधि तैं सब ही की त्यागी॥
सो जन युवति भूलि तुहि जाई। आवे सुरति न कोटि उपाई॥
जैसे मदमातो नर कोई। प्रथम बात कहि भूल्यो होई॥

मेरा पाप मेरी आँखों के सामने खड़ा हो गया। मैंने शकुन्तला को कुटी में देखा—शकुन्तला का मुख मेरे जैसा था। दूर दुर्वासा को अतिथिरूप में क्रोध से शाप देकर जाते हुए देखा। परन्तु दुर्वासा का मुख मेरे ससुर के जैसा था। 'हाय' कहकर मैं खड़ी हो गई। मुझे भान हुआ। मेरे घोर पाप के सामने शकुन्तला का पाप कुछ भी न था। मैंने अपने पति के पीछे पागल होकर उसके बाप को—उसके स्नेही बुड्ढे बाप को—उसकी वृद्धावस्था में दुःख दिया, चुप रहने को मजबूर किया, महीनों तक उसे जानवर समझा। हे भगवान्! यदि खाना आध घंटे देर से खा लिया होता, तनिक जल्दी उठकर पानी गर्म कर दिया होता तो आज यह दशा न होती। दुर्वासा के भयंकर शब्द मेरे कान में गूँजने लगे।

नीचे मुन्ना रोया। जब वह दस महीने का था तभी से ससुरजी से हिल गया था और नीचे उन्हीं के पास सोता

था। मैं उठी और हाथ में दीया लेकर नीचे उतरी। अंडी के तेल के दीये के धुँधले प्रकाश में ससुरजी मुन्ना को हाथ में लिए बैठे थे और अनिर्वचनीय ममता से उसे देखते हुए हाथों में लेकर झुला रहे थे। मुझे ध्यान आया कि ऐसे ही मेरे डाक्टर को भी मेरे ससुरजी ने हिलाया होगा और आज इस बुड्ढे का मुख किसी को अच्छा नहीं लगता। मेरी आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी।

"ससुरजी।"

"क्यों बेटी?"

"मैं क्या कहती?" उन्होंने डाक्टर को आते हुए देखा था और वे मेरी स्थिति को जान गये थे। वे एक शब्द भी न बोले। उन्होंने सदैव की भाँति वात्सल्य भाव से कहा—"लक्ष्मी, बैठ बेटी! जरा भैया को ले।" कहकर मुझे मुन्ना दे दिया। मैंने उसे हाथ में लिया और मैं चौंक पड़ी। इतने दिन से लापरवाही के कारण मुन्ना को देखा भी नहीं था। उसका शरीर क्षीण हो गया था। उसका रंग भी काला पड़ गया था।

"ससुरजी! मुन्ना को कुछ हो गया दीखता है?"

"मुझे भी ऐसा ही लगता है, बेटी!"

हम सारी रात बैठे रहे। पति की कुटिलता से दुखी होकर मैंने उसके अनुकूल जीवन बिताना छोड़ दिया और ससुर की सेवा करने लगी। तनिक भूल होती तो दुर्वासा का शाप याद आ जाता।

मेरे डाक्टर को तो जैसे पागलपन ही सवार हो गया। उनके लिए तो रामदास फौजदार ही देवता था। धीरे-धीरे

कमाई भी कम होती गई। मुन्ना की परीक्षा करने के लिए भी मैंने कई बार कहा लेकिन उन्होंने न माना। आखिर एक दिन शाम के वक्त मुन्ना बहुत बीमार हो गया। उसके हाथ-पैर ठंडे होने लगे। डाक्टर घर न थे इसलिए ससुरजी उनके मित्र एक दूसरे डाक्टर को, जो घर में थे, बुला लाए। मुन्ना बिलकुल बेहाल हो गया था।

वह डाक्टर आया। मुन्ना को देखा और सर हिलाया। मेरी छाती फट गई। मेरा नन्हा कोमल फूल!

"नहीं काका! मुझे कोई आशा नहीं। मुझे लगता है कि उसकी ठीक देखभाल नहीं हुई।"

मैंने हाथ से अपना कपाल ठोका। जैसा किया वैसा पाया। मैंने जननी होकर भी भोग-विलास में सब कुछ भूलकर उसे तरसा-तरसाकर भूखों मार दिया। हाय! हाय! मेरा बेटा! क्या करूँ? आधे घंटे तक मुन्ना को जमीन पर रखा और वह मर गया। दुर्वासा का शाप! हे भगवान्! पति आवारा हो गया—लड़का मर गया। मैंने छाती और माथा कूट डाला। ससुरजी भी बहुत रोए। डाक्टर तो बाहर गये हुए थे। रात के बारह बजे तक हम बैठे रहे। आखिर नशे में झूमते हुए डाक्टर आये।

"क्यों बे?" कहकर मुझे धक्का दिया।

"डाक्टर!" हिचकियों से टूटी हुई आवाज में मैंने कहा, "मुन्ना मर गया।"

"हें!" लगा जैसे वे अपनी स्मृति को समेट रहे हों। बुद्धि कुछ ठिकाने आई। बोले—"क्या कहती है?"

मुझसे न रहा गया। मैं रो पड़ी—डाक्टर! डाक्टर! "क्या-क्या" क्या करते हो। आपका और मेरा लड़का—मुन्ना गया और हमारे ही पाप से।

मैं उनको पौरी में ले गई। मुन्ना मुरझाए पुष्प के समान पड़ा था। ससुरजी उसे पकड़े बैठे थे। मेरे डाक्टर के हृदय में पितृ-प्रेम उमड़ा। उनकी आँखों में आँसू आ गये।

"हाय! हाय! कैसे मर गया।"

"क्यों? मेरे और आपके पाप से।" मैं कहे बिना न रह सकी।

"पापी मा को प्रेम में बेटे का भान न रहा। पापी पिता की कुसंगति के कारण स्वयं डाक्टर होते हुए भी बेटे को देखने का मन न हुआ। हाय! हाय! हे मेरे बेटा"—कहकर मैंने फिर छाती और माथा कूट डाला।

मेरे डाक्टर के मन में तुरन्त कुछ परिवर्तन हुआ। कुछ महीनों की कुसंगति का असर गया और फिर ऊँचे विचार उभरने लगे। वे मेरे पास आये। मेरे कन्धे पर हाथ रखा और बोले—"लक्ष्मी! मुझे माफ करना। मैं हत्यारा हो गया हूँ। नहीं? मैं स्वयं हुआ—तुझे भुला दिया। मेरा पाप"—

"डाक्टर! पाप दूसरा है।" मैंने रोते-रोते कहा।

"क्या?"

"शकुन्तला को जो शाप लगा था वही हमें भी लगा है।"

"शकुन्तला!"

"हाँ, उसने अतिथि का अनादर किया था, हमने...."

"हमने?"

"हमने ससुरजी का।"

"डाक्टर ने देखा। समझे, दयापूर्ण होकर ससुरजी के पास गये और पैरों में गिर पड़े।"

"पिताजी! मुझे माफ..........,"

"ससुरजी ने उन्हें बोलने नहीं दिया।"

"बेटा! शतायु हो और तुम्हारी जोड़ी सुखी रहे।"

"मेरे डाक्टर रो पड़े और रोकर उन्होंने अपने पाप का प्रायश्चित्त किया।"

———

गुजरात का श्रेष्ठ कवि

कुछ दिन हुए मैं नवसारी से बम्बई आ रहा था। संयोगवश मुझे एक खाली डिब्बा मिल गया इसलिए मैंने आराम से सोने का विचार किया गोटली सर के नीचे रखकर और जँभाई लेकर मैं पैर फैलाने की तैयारी कर ही रहा था कि इतने में बलसाड़ स्टेशन आ गया और एक सूखा-सा, अधेड़ उम्र का, बाँयें से थेगड़ी लगा हुआ कोट पहने और फोकस से बाहर गए चश्मे से शोभित गृहस्थ गाड़ी में चढ़ा।

पहले मैंने उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया लेकिन उसका विचार अपरिचित रहने का नहीं था। वह दूसरे कोने में बैठा, खाँसा और हुलास सूँघने लगा। चश्मे को आँख पर ठीक से जमाया और बोला—"क्यों जनाब, कहाँ रहते हो?"

"बम्बई," मैंने कहा और चुप हो गया।

पिछली रात को चार-पाँच दोस्तों के साथ देर तक जागा था इसलिए आँखें झुकने लगी थीं। लेकिन मेरे साथी की जीभ बन्द रहनेवाली न थी। उसने पहले एक पुस्तक निकाली

और गुनगुनाने लगा। मैंने पड़े-पड़े जरा ऊँचा होकर देखा तो कलापी का "केकारव"[१] दिखाई दिया।

सच पूछो तो मैं कवियों का भक्त हूँ और विद्वान् होने का इच्छुक हूँ इसलिए मेरे अन्तर का विद्वत्ता का कीड़ा कुछ कुलबुलाने लगा। मुझे इस रसिक व्यक्ति का परिचय पाने की इच्छा हुई। लेकिन इतने में ही उसने एक नोटबुक निकाली और सपाटे से कुछ लिख डाला। इसके बाद पोटली में से दूसरी पुस्तक निकाली और फिर कुछ गुनगुनाने लगा।

नजर ऊँची करके देखा तो नरसिंह राव का "नूपुर-झंकार"—क्या बताऊँ? सुनाई दिया या दिखाई दिया?—दिखाई दिया। फिर उसने कुछ लिखा और झट उसमें की कुछ कविताएँ गुनगुनाने लगा। मैं दंग रह गया—कौन से महापुरुष सौभाग्य से मेरे साथ चल रहे हैं, यह जानने के लिए मैं चौकन्ना हो गया। मतलब यह कि मैं सोते से उठ बैठा और सामने बैठे व्यक्ति के मुख पर किसी अदृश्य भव्यता और किसी अगम्य रसिकता की खोज करने लगा।

"आप कहाँ जा रहे हैं?" मैंने डरते-डरते पूछा। मैंने अब तक कभी ऐसे कवि के दर्शन नहीं किए थे इसलिए यह सोचते-सोचते कि यह कौन महापुरुष हैं—कौन गुर्जरगिरा का लाड़ला है, मैं अधीर हो उठा।

"बम्बई," बिना आँखें ऊँची किए जल्दी-जल्दी नोटबुक में कुछ लिखते हुए मेरे साथी ने कहा।

१—गुजराती के प्रसिद्ध कवि कलापी का कविता-संग्रह।

"आप कहाँ उतरेंगे ?"

लेखक ने अपना बायाँ हाथ चेतावनी देने के लिए ऊँचा उठाया और मुझे रोका—इस भय से कि कहीं उसकी कलम की नोक से उतरता हुआ सरस्वती का प्रसाद रह न जाय। मने अपनी इच्छा दबाई और जीभ को वश में किया। उसने लिखकर नोटबुक ऊँची कर चश्मा ठीक किया और मुझसे बोला—"अब कहिए जनाब ! माफ करना क्या पूछ रहे थे ?"

"जी ! यही कि क्या आप कोई लेखक हैं ?"

"भगवान् की कृपा से थोड़ी-बहुत सरस्वती की सेवा कर लेता हूँ।"

अहाहा ! कैसी उत्तम नम्रता थी, उनकी आँखों में कैसी अनोखी चमक थी।

"क्या आप कविता लिखते हैं ?"

"थोड़ी-बहुत—जब कभी," कवि ने कुछ मुँह मटकाकर और दो-तीन टूटे दाँतों को छोड़कर शेष दृढ़ दन्तावलि दिखाते हुए कहा। मेरी उत्कंठा बढ़ी। कैसा उपयोगी दलील थी। वार्तालाप का कैसा रसमय प्रसंग था। आत्मोन्नति प्राप्त करने का कैसा सरल मार्ग था। मेरी छाती फूल गई।

"कलापी के सम्बन्ध में आपका क्या विचार है ?" मैंने हिम्मत बाँधकर बात शुरू की। मेरे साथी ने कुछ नाक सिकोड़ी। छोटी आँखों से तिरस्कार की किरणें फूटने लगीं—"अच्छा है। बुरा नहीं।"

"नरसिंह राव कैसे हैं ?"

"अच्छा है।"

"नानालाल की शैली तो आपको पसंद होगी ही ?"

"सब अच्छे हैं पर पूर्ण एक भी नहीं।"

"हैं।" मेरा कलेजा जल उठा। इतना अधिक तिरस्कार! मेरा मन डगमगाने लगा—"तब आप पूर्ण किसे कहते हैं ?"

"यह सवाल जरा कठिन है।"

"क्यों ?"

"पूर्णता आप किसे कहते हैं ? एक प्रकार की जो आदत पड़ जाती है उसके अनुसार घिस-घिस करने का ही नाम पूर्णता है क्या ? पचास वर्ष तक एक ढंग से लिखते रहकर अच्छा कहलवाने में क्या बड़ाई है ? यह तो रास्ता चलनेवाला भी कर सकता है।"

मेरे साथी की बात मेरे गले उतरी। उसकी बुद्धि के लिए सम्मान बढ़ा। इसके बाद मैं नम्र होकर पूछ बैठा—"लेकिन आप पूर्ण किसे समझते हैं ?"

"कवि में पूर्णता का निश्चय करना कठिन काम है। लेकिन वास्तविक कवि तो वही है जो प्रत्येक कविता-पद्धति में सिरमौर हो, जो प्रत्येक रस में एक सी सरलता से लिख सके, जो प्रत्येक विशेषता को कलम की नोक पर रखता हो।"

"ठीक है," विद्वत्ता के समुद्र में डुबकी लगाते हुए मैंने कहा, "लेकिन आपने मेरे सवाल का जवाब नहीं दिया।"

"नहीं देता। कारण, जवाब देते शरमाता हूँ।" मेरे साथी के झुर्रीदार मुँह पर शर्म की छाया दिखाई दी। मुझे

कुछ खयाल आया—गुजरात का कोई कवि-शिरोमणि तो मेरे सामने नहीं बैठा है?

"नहीं, नहीं, कहिए तो सही।"

"क्या कहूँ? देखो कलापी बड़ा कवि है न? लेकिन कल्पना करो कि कोई कलापी जैसी भी कविता लिखे और नानालाल जैसी भी तो वह कवि दोनों से श्रेष्ठ हुआ कि नहीं?"

"अवश्य," मैंने जोर से सर हिलाकर कहा।

"अच्छा। फिर वह व्यक्ति यदि दयाराम के गरबों को भी मात देनेवाले गरबे लिखे तो?"

"तो तो उससे भी श्रेष्ठ हुआ।"

"और यदि उसके साथ ही प्रेमानन्द की भी कला दिखावे तो?"

"तब तो कहना ही क्या है? लेकिन कहाँ है ऐसा कवि?"

"यह है वह सेवक।" बड़प्पन के गर्व और लज्जा की विनम्रता से कविराज बोले।

"हैं," कहकर मैं खड़ा हो गया। यह कौन है? यह नरसिंह राव है या मणिशंकर या कोई छिपा हुआ अज्ञात रत्न?

"जी हाँ, यह सेवक—मैं यह सब कर सकता हूँ इसीलिए अपने को नम्रतापूर्वक श्रेष्ठ कवि मानता हूँ। यही नहीं, इनमें से किसी भी कवि जैसी कविता करना सरलता से सिखा भी सकता हूँ।"

"क्या बढ़िया बात है ?" आश्चर्य के समुद्र में गोते खाते हुए मैंने पूछा, "आप कहाँ लिखते हैं ?"

"कहाँ ? सब जगह। हरेक मासिक में, हरेक साप्ताहिक में, हरेक दैनिक में, हरेक जातीय पत्र में—भिन्न-भिन्न शीर्षकों में—भिन्न-भिन्न उपनामों से।"

"लेकिन यह आश्चर्य की बात है कि आपका नाम मैंने नहीं सुना ?"

'कारण यह है कि मैं सर्वव्यापक हूँ। मेरे मित्र मुझे कभी-कभी आर्डर लिख भेजते हैं और मैंने मनचाही शैली में कविता लिखने की पाठशाला खोल रखी है।"

"कहाँ ?"

"मैं उस पाठशाला को पत्र-व्यवहार द्वारा ही चलाता हूँ और मैंने कविता लिखने का शास्त्र ऐसे नियमित और सायंटिफिक आधार पर बनाया है कि पन्द्रह दिन की मिहनत से चाहे जैसा गधा भी अच्छी से अच्छी गुजराती कविता लिख सकता है।"

मैं आशा-सागर की ऊँची-ऊँची तरंगों में उतराने लगा। कल्पना-शक्ति का घोड़ा सरपट दौड़ने लगा। इस महात्मा से कविता लिखने की दीक्षा लेकर कवि बनूँगा, गाँव-गाँव में अपना नाम फैलाऊँगा, भावी पीढ़ी को चिरकृतज्ञ बनाऊँगा, भावी आलोचकों को अहर्निश यह कविता मेरी है या मेरे काका की इसी समस्या में उलझाए रखूँगा ! परन्तु एक शंका उठाई—"लेकिन कविता करना तो ईश्वर की देन है फिर हरएक आदमी कविता कैसे कर सकता है ?"

"अरे हाँ, यह तो ठीक बात है लेकिन ये सायन्स के दिन हैं। हाल की लड़ाई ने दुनिया को सीधी रेल पर चढ़ा दिया है सिस्टम-सिस्टम ! ईश्वर की देन तो मूर्खों का स्वप्न है। सबको सिस्टम के अनुकूल बना दो तो ईश्वर के लिए स्थान ही कहाँ रह जाता है ?"

मैं खुश हुआ। बात मुझे ठीक लगी।

"अच्छा ! तो क्या आप मुझे कुछ उपदेश देंगे ? मैं भी कवि होना चाहता हूँ—मैं भी गुर्जरगिरा की सेवा करने के लिए लालायित हूँ।"

"अच्छी बात है। यदि कविता लिखने का अभ्यास करना हो तो पहले नाटक के गीत लो और उनकी तर्ज पर कुछ लिखो। इधर रस का बहुत विकास हो चुका है इसलिए गद्य जैसा पद्य लिखने में ही बड़प्पन है। फिर नाट्य-शास्त्र के संशोधन के प्रयत्न हो रहे हैं और दो पात्र एक के बाद एक पंक्तियाँ बोलते हैं इसलिए मात्रा वात्रा की परवाह नहीं की जाती। उदाहरण के लिए मेरा लिखा यह संवाद बम्बई की रसिक और मर्मज्ञ जनता को इतना प्रिय लगा था कि उसने तेरह बार 'वन्स मोर' की थी। देखो—

"आप कौन हैं ?"

"मैं रानी।"

"क्या है आपका नाम—कैसा है आपका काम—कहाँ से आई हैं इस धाम ?"

"मैं आई—प्रीति लाई—आपके मन पाई—वाह ! वाह ! वाह ! आहा ! आहा ! आहा !"

"यहाँ 'वाह' और 'आहा' का प्रयोग देखना और उसकी झमक की कद्र करना। कितना सुन्दर लगता है !"

मैंने सर हिलाया—"अच्छा फिर ?"

"इसे पहली सीढ़ी समझो। फिर यद्यपि आजकल दोहे-चौपाई पुराने हो गए हैं तथापि कोई सरल छन्द चुनो। कितने ही उदीयमान कवि हरिगीतिका छन्द अधिक पसंद करते हैं क्योंकि वह बातों में भी बन सकता है। जैसे—'बैठा हुआ था मैं। वहाँ तब बात यह ऐसी हुई।' दो-चार हरिगीतिका छन्द जबानी याद करने से उनकी लय दिमाग में बैठ जायगी और सब आसान हो जायगा।"

"लेकिन विषय कहाँ से आवेगा ?"

"क्या पागलपन की बात करते हो ? तुम बड़े दकियानूस मालूम पड़ते हो। अरे, आजकल तो स्वाभाविकता की आवश्यकता है। महाकवि वर्ड्सवर्थ का प्रताप है। जितना ही विषय निर्जीव होगा उतना ही कविता अधिक सुन्दर होगी और यदि विषय शून्यता हो तो फिर कहना ही क्या है ? लेकिन शुरू में उसका लाना कठिन पड़ेगा। 'त्राटिका' त्रैमासिक में मेरा फीफला (बांदा[१]) वाला हरिगीतिका छन्द जगद्विख्यात है।"

"मुझे शर्म आई। कितने खेद की बात है कि ऐसी जगद्विख्यात कृति से भी मैं अपरिचित हूँ ? धिक्कार है मेरे पढ़ने-लिखने और जीने को।"

१—एक कीड़ा जिसे हिन्दी में तिलचट्टा, चीपा या खपटा कह सकते हैं।

"उसकी पहली पंक्ति यों थी—'मैं सो रहा था खाट पर आया वहाँ एक फीफला'।"

"स्टेट के यशस्वी महाराज ने तो अपने नौकरों को पुकारने के लिए इस कविता को कंठाग्र कर लिया था।"

"अच्छा फिर ?"

"अब हम अपने बड़े कवियों की ओर आते हैं। यदि हरिगीतिका छन्द बनाना आ गया तो समझ लो कि तुम काव्य-शास्त्र में ग्रेज्युएट हो गए। इसके बाद कलापी को लो। यदि ऐसा काव्य लिखना हो तो घर में किसी के साथ लड़ पड़ने पर वह अधिक अच्छा लिखा जायगा। भिन्न-भिन्न कवियों के खास-खास शब्दों के लिए एक नोटबुक रखनी चाहिए जिससे कि उनकी तर्ज पर कविता लिखते समय उनके जैसे शब्दों का अच्छी तरह प्रयोग किया जा सके। कलापी के शब्दों में देखो कि इश्क, दिल, जिगर, स्मरण, रोना, आँसू आदि अक्सर आते हैं। लिखते समय इन शब्दों का दो-चार बार पारायण कर जाओ और गजल लिख मारो। फिर कलापी तो ऐसा है कि पन्द्रह मिनट उसे पढ़ो कि वैसा लिखने की धुन लग जायगी—"अरे मेरे हृदय प्यारे, न रो तू शान्त रह भाई।" क्या इस पंक्ति में 'केकारव' की प्रतिध्वनि नहीं है ? और कलापी की तर्ज पर लिखने के लिए विषय नहीं देना पड़ता। 'इश्क' और 'प्रिया' दो को पकड़ लिया कि बेड़ा पार है। सब विषय पुराने हो गए हैं पर ये क्या कभी पुराने हो सकते हैं ?"

"जी नहीं। यदि ऐसा हो गया तो कवियों का रोजगार कैसे चलेगा?"

"ठीक है! कौनसा स्टेशन आया? बांदरा। अभी बहुत देर है। ठहरो, मैं जरा बीड़ी सुलगा लूँ।" कहकर कविराज ने चर्चा आगे चलाई—"अब आधुनिक कविता को लो। ललित की शैली पर मेरा अद्भुत अधिकार है। लालित्य तो मेरी विशिष्ट सम्पत्ति है। और उसका आज का रूप भी कुछ अनोखा ही है। एक ही शब्द को इधर-उधर करके जिस सरसता का प्रसार ललित की कविता करती है उसकी समता कौन कर सकता है? उसमें भी आजकल इस शैली का चरम विकास हो गया है। विशेष रूप से जिन पत्रों में लेख नहीं होते और पृष्ठ-संख्या अधिक दिखानी होती है उनको यह शैली बहुत रुचिकर लगती है। कारण यह है कि कविता की एक भी पंक्ति तीन शब्दों से अधिक नहीं बढ़ पाती। एक शब्द 'दुखा' लो। देखो इससे हम कविता बनाते हैं—

'हा, यह दुखा।
'क्या क्या दुखा।
मेरा मन दुखा।'

न हो तो कोई नाटक का राग लो। कल्पना करो कि 'गोविन्द गुण गाऊँ रे' के राग की कविता लिखनी है। नमूना यह देखो—

'बैठा क्या बैठा बैठा रे, बैठा, क्या बैठा बैठा।' क्या रस बरस रहा है?"

मैंने उनकी बात मानते हुए कहा—"लेकिन नानालाल जैसों की शैली की नकल करना तो सरल नहीं है।"

"महाशय! मैं बड़ा ही शरमीला आदमी हूँ। यदि मुझमें वह शक्ति न होती तो क्या मैं कभी श्रेष्ठ कवि कहलाने का दावा करता? नानालाल की शैली पर तो मेरा अधिकार अप्रतिम है। कारण, आजकल तो वैसी कविताओं के आर्डर बहुत आते हैं।"

"तो वह कैसे लिखी जाती है? मैंने तो बेहद माथा-पच्ची की पर वैसा लिखा ही नहीं गया।"

"कारण यह है कि तुमने मुझसे सीखा ही नहीं। देखो, ऐसी कविता लिखने से पहले भाषा को ऊँचा करना चाहिए। ऊँचा करने का अर्थ यह है कि मीठी, मधुर, झमकदार, जीभ को मरोड़नेवाली और बुद्धि को घबरानेवाली शब्दावली एकत्र करनी चाहिए। कुछ शब्द तो ऐसे हैं जिनके बिना काम ही नहीं चल सकता। देखो पहले तो 'अनोखा' 'स्व' 'मंजुल' और विशेषकर 'य' शब्दों के यत्र-तत्र प्रयोग की आवश्यकता है। फिर दूसरी पंक्ति के लिए भी बहुत से शब्द इकट्ठे करने चाहिएँ। जैसे 'मनुदेह, समाधि, ब्रह्मयोग आदि'।"

"लेकिन मुझे तत्त्वज्ञान तो आता ही नहीं।"

"उसकी क्या चिन्ता है? तुम्हें कविता लिखनी है या तत्त्वज्ञान जानना है?"

"लेकिन बिना जाने प्रयोग कैसे हो सकता है?"

"भले आदमी। जितना ही बिना जाने प्रयोग करोगे उतनी ही तुम्हारी विद्वत्ता की धाक अधिक जमेगी। और

देखो साथ ही 'ड-डा' की भी भरती करनी चाहिए। "नानकडुं, लीलमडी, मेंसलडी"[१] आदि रसमय शब्दों का समुच्चय एक स्थान पर हुआ कि तुमने आधा मैदान मार लिया। तुम सज गए, बस युद्ध में उतरना ही रह गया।"

"वह कैसे होगा ?"

"उसके लिए पहले वंशी का बजना, चाँदनी का खिलना, फूलों का चुना जाना जैसे सरस विषयों को ढूँढ़कर रखना होगा और यदि अंग्रेजी पर अच्छा अधिकार हो तो शेली और कीट्स की कितनी ही उपमाओं और कल्पनाओं को इकट्ठा करना होगा, जिससे कि उनका अनुवाद हो सके और वे कविता की समृद्धि का कारण बन सकें।"

"लेकिन इसके लिखने का तरीका क्या है ?"

"दो तरीके हैं। पहला तरीका तो यह है कि एक कागज पर गद्य में ऐसे प्रसंग को——ऐसे शब्दों और ऐसी कल्पना से युक्त विषय को लिख डालना चाहिए। फिर उस कागज को लेकर उसके ऐसे दो टुकड़े करने चाहिए कि वह सीधा न फटे। ऐसा करने से तुम्हारी पंक्तियों की लम्बाई बँट जायगी। उसके बाद जिस ढंग से कागज फाड़ने से वाक्य टूटा है, उसी ढंग से लिखना शेष रह जायगा और इस प्रकार नानालाल जैसी रसमयी रचना तैयार हो जायगी। दूसरा तरीका कुछ कठिन है।"

"वह क्या है ?"

१—नन्ही-सी, नीलम-सी, मैंस-सी।

"एक कागज लेकर उसमें शतरंज जैसे खाने बनाओ। आठ खड़े और आठ पड़े खाने बनाओ तो चौंसठ खाने होंगे। फिर जिस खाने में चाहो, उसमें 'अनोखा', आह्लाद, कोयल, कूक, वंशी, मंजुल, सुरभित —ऐसे चार-पाँच शब्द लिख डालो। यह किया कि सारी सामग्री तैयार हो गई। वाक्यों को पाँच या छः शब्दों से अधिक लम्बा करना अशास्त्रीय है, इसलिए बाकी बचे खानों में ऊपर के शब्दों के जोड़ के श्रुतिमधुर शब्द जमा दो। बस, तुम्हारी कविता तैयार हो गई। इतना ध्यान रखना कि कुछ विचित्रता रहे नहीं तो सब बेकार हो जायगा।"

मेरे हर्ष की सीमा न रही। मुझे विश्वास हो गया कि अब कवि होकर अमर होने की मेरी साध पूरी हो जायगी। अपने गुरु को मैंने कृतज्ञतापूर्ण नेत्रों से देखा।

"लेकिन आप अपने नाम से कविता क्यों नहीं छपाते? अमर होने का अवसर क्यों खोते हैं?"

"कितनी ही बार मुझे स्मॉल कॉज कोर्ट के बेलिफों से छिपकर घूमना पड़ा है लेकिन अब मेरा विचार प्रकट रूप में आने का है।"

"सचमुच! यदि आप प्रकट हो गये तो गुजरात का बेड़ा पार हो जायगा। फिर गुर्जरी देवी की महत्ता का क्या कहना?"

"हाँ, गुर्जरी देवी अद्भुत है, सौंदर्यमयी है। जब-जब मैं साहित्य-मंदिर की कल्पना करता हूँ तब-तब मेरा मन आकाश को फोड़कर न जाने कहाँ का कहाँ पहुँच जाता है।"

"हाँ, पहुँचता ही होगा।"

"मैं निरन्तर अपनी कल्पना के रंगीन प्रदेश में गुर्जरी की साहित्य-वाटिका को देखता हूँ और मुझे उसमें गुजरात के अनेक कविरत्नों के दर्शन होते हैं। वहाँ मैं 'इश्क' और 'कफन' के कितने ही दीवानों को दग्ध-हृदय पर भस्म रमाये इधर-उधर भटकता पाता हूँ। उस सुन्दर वाटिका के एक कोने में झोंपड़ी के भीतर ललित गाते हुए दिखाई देते हैं तो दूसरे में आम्रकुञ्ज में कूकती कोयल के साथ तान मिलाती वंशी के स्वरों से किसी नैष्ठिक ब्रह्मचारिणी के हृदय को मस्त बनानेवाले नानालाल नजर आते हैं। तीसरी ओर साहबों की-सी वेषभूषा धारण किये नरसिंहराव नूपुर-झंकार की सरस ध्वनि गुंजाते मिलते हैं। अहा हा! क्या सौंदर्य है! क्या आकर्षण है!"

मैंने कविराज के भव्य मुख को देखा और भक्ति-भाव में विभोर होकर पूछा—"लेकिन इस वाटिका में आपका स्थान कहाँ है?"

"मेरा—मेरा? ये गुर्जरी के पुत्र मेरे लिए बालक हैं।"

"ग्रांट रोड! ग्रांट रोड!" बाहर से आवाज आई।

सब बातें छोड़कर मैं अपनी पोटली सँभालने के लिए उठ खड़ा हुआ।

———

मैं क्या करूँ

पाठकों से एक व्यक्तिगत प्रश्न पूछता हूँ कि अब मैं क्या करूँ ? किसको दोष दूँ ? मुझे कोई मार्ग नहीं सूझता। इसका कारण केवल यह है कि जिससे कहता हूँ, वही हँसता है। जिस वस्तु को लोग मेरा सौभाग्य समझते हैं उसी में मेरा दुर्भाग्य छिपा है और वह वस्तु है मेरी स्त्री।

इससे यह मत समझ लेना कि मेरी स्त्री कोई कुरूपा या पुराने विचार की है या अपढ़ या नीरस या लापरवाह या नमक-हराम या शंखिनी है। उसमें इन सब दोषों का अभाव है, यही मेरे दुःख का कारण है। शरीर और रूप-रंग की दृष्टि से वह सुन्दर है, इससे अधिक और कुछ कहना मैं उचित नहीं समझता। विचार उसके ऐसे हैं कि वह महादेव गोविन्द रानाडे को भी दो-एक सुधार के सिद्धान्त सिखा सकती है। उसकी बुद्धि की धार विलायती चाकू जैसी है। बम्बई यूनि-वर्सिटी की इन्टरमीडिएट परीक्षा पास कर चुकी है इसलिए उसकी योग्यता में सन्देह करने की हिम्मत नहीं होती।

रसज्ञता में तो वह मानो—अच्छा नहीं कहता । संक्षेप में मुझे ऐसी बुद्धिमती, समझदार, रसज्ञ, चतुर और शीलवती स्त्री का पति होने का सौभाग्य प्राप्त है, जैसी कि काश्मीर से कन्याकुमारी तक समस्त भारत में मुश्किल से ही मिल सकती है । डाह्या भाई घोलशाजी कह गये हैं—

"जा घर नारि सुलक्षणी सो सोवे सुख साथ ।"

इस पंक्ति के लेखक के लिए मेरे मन में भारी सम्मान है फिर भी मैं कहूँगा कि यह बिलकुल गलत है । मेरे घर सुलक्षणी स्त्री है तो भी मैं एक दिन भी सुख से नहीं सो पाया । बताओ अब मैं क्या करूँ ?

दरअसल बात यह है कि जब मैंने बी० ए० पास किया तब उसने (आप समझ गये होंगे कि किसने) इन्टरमीडियेट पास किया । मैं कालिज में लड़कों का सरदार समझा जाता था । सब उसके पीछे पागल हुए फिरते थे । कोई उसकी किताबें सँभालता था तो कोई उसे स्टेशन तक पहुँचाने जाता था । प्रोफेसर उसे चाय पर बुलाते थे । यहाँ तक तो सब ठीक था लेकिन बाद में जब हमारी शादी हुई तब मुसीबतों की शुरुआत हुई ।

घर में या बाहर, मित्रों या आतिथ्य-सत्कार में वह मेरी स्त्री नहीं समझी जाती पर मैं उसका पति समझा जाता हूँ । मैं रास्ते में जा रहा होता हूँ तो लोग मेरी ओर उँगली उठाकर कहते हैं—"ये मिस्टर ! हैं ! ये तो मिस्टर क्ष हैं—वह जो अपनी मिस मैना है न, उसके पति । मिसिस बड़ी होशियार है । वास्तव में आदर्श है ।" ऐसी दशा में सेवक का क्या महत्त्व हो सकता है ।

बहुत दिनों बाद यदि कोई मित्र मिलता है तो पूछता है—"ओहो ! मिस्टर त्त ! क्यों मिसिस त्त कैसी हैं।" कोई भला आदमी मेरी तबियत के बारे में तो पूछता ही नहीं। कई बार मेरे मन में आता कि कह दूँ कि मिसिस त्त गई जहन्नुम में।

यदि कहीं चार आदमी बात कर रहे हों और मैं पहुँच जाऊँ तो सब अद्भुत ढंग से बात बदल देते हैं। हिन्दू परिवार-प्रथा कितनी कष्टप्रद है, स्त्रियाँ कितनी अपढ़ हैं, पतियों को कितना सहना पड़ता है आदि-आदि बातें करने लगते हैं। जहाँ ये बातें आरंभ हुईं कि मैं नौ-दो-ग्यारह हुआ। कारण कि मैं जानता हूँ कि दूसरा वाक्य निश्चय ही यह होगा—"हाँ भाई त्त तो किस्मतवाला है। उसे इन सब दिक्कतों से क्या मतलब ? उसे तो मिस........मैना।" मुझे चाहे जो कुछ होता हो लेकिन उसमें दुनिया के बाप का क्या जाता है कि इतना अत्याचार करती है।

मित्र पत्र लिखते हैं तो भी पक्षपातपूर्वक मिसिस त्त को ही संदेश भिजवाते हैं। जैसे सेवक को तो कोई सन्देशा पहुँचानेवाला दूत हो। कुछ तो ऐसे हैं जो धृष्टतापूर्वक बार-बार 'My dear Mrs.' लिखते हैं। नये जमाने के अनुसार मुझे यह भी सहना पड़ता है। मैं क्या करूँ ?

मुझे सब ऐसी दृष्टि से देखते हैं जैसे मैं कोई आवारा होऊँ, किसी बेश कीमती शेरनी का रखवाला होऊँ, किसी महारानी का गृह-व्यवस्थापक होऊँ। गनीमत इतनी ही है कि मैं एम० ए० हूँ और मेरा धंधा जमा हुआ है।

घर में भी मेरा मरण है। एक बार मिसिस त्त के सर में दर्द होने लगा। इसमें मेरा तो कोई दोष था नहीं। लेकिन जब मैं ग्राफिस जाने के लिए जीना उतरने लगा तो अपनी बगल में रहनेवाले पड़ोसियों की यह बातचीत सुनकर दंग रह गया—

"बेचारी आज बहुत बीमार लगती है।"

"बीमार तो क्या है पर उसका पति जानवर जैसा है। कुछ झगड़ा कर बैठा होगा। हम लोग पढ़-लिख भले ही गये हों पर" आदि-आदि। अब बताओ मिसिस त्त के सर में दर्द है तो उसमें भी मेरा ही कसूर है। और मान भी लो कि मैंने झगड़ा कर डाला तो उसमें दूसरों को पंचायत करने की क्या जरूरत है? मेरी औरत है और मैंने झगड़ा कर डाला।

यही नहीं घर में मा-बाप का भी वैसा ही प्रकोप है।

"भाई त्त इस मैना के लिए तू इतना भी नहीं करता। तू उसे बहुत तंग करता है।" आदि-आदि। मतलब यह कि वह मेरे घर की मालकिन है और मैं उसका नौकर हूँ।

यदि इतने से ही मेरी मुसीबत टल जाती तो बहुत अच्छा था लेकिन होता यह है कि मैं शाम को थकामाँदा घर आता हूँ और सोचता हूँ कि चलो आराम से सहधर्मिणी के साथ दो क्षण बितायेंगे कि कोई मित्र दरवाजा खटखटाता हुआ आ धमकता है—"क्यों, कैसे हो मिस्टर त्त? मिसिस त्त तो मजे में हैं न? मेरा जी कुछ अच्छा नहीं था सो मैंने कहा चलो मैना बहन के ही यहाँ हो आऊँ।"

"क्यों, कोई खास काम?"

कुछ आकर्षक ढंग से—"नहीं भाई! खास काम तो कोई नहीं है। मैना बहन! अपनी भाभी को तो तुम जानती ही हो। हमारे घर की हालत भी विचित्र सी है। मन कुछ अधिक उद्विग्न हुआ इसलिए तुम्हारे पास चला आया।"

ठीक है। जनाब को औरत अच्छी नहीं मिली तो हमारे घर चले आये। इतना ही नहीं, ऐसे महाशय जमकर बैठते हैं, मैना के साथ बात करते हैं और सेवक गूँगा बना बैठा रहता है नहीं तो हाँजी-हाँजी करना शुरू कर देता है। मैना उनका दुख सुनती है, आश्वासन देती है और धीरे से बिदा कर देती है। क्या इसका यह मतलब है कि जिसको मनचाही स्त्री न मिले वह मेरे घर को गाँव की चौपाल बना दे?

एक दिन रात को मैना गाने बैठी। एक के बाद दूसरे गाने का समा बँधने लगा। बहुत दिन के बाद ऐसा सुखद अवसर आया था। कुछ देर बाद यों ही खिड़की के पास गया तो क्या देखता हूँ कि पंद्रह-बीस जने गर्दन ऊँची किये मेरी खिड़की में झाँक रहे हैं। मैंने फट से किवाड़ बन्द कर दिये। हमारा घर पहली मंजिल पर था। दूसरे ही दिन मैंने मकान मालिक को नोटिस दे दिया कि अब मैं पाँचवीं मंजिल पर रहूँगा, जिससे कि मैना की आवाज सुननेवालों की संख्या न बढ़े।

रात-दिन इस प्रकार की घटनाएँ घटने से मेरा स्वभाव बिगड़ गया है। मैं क्या करूँ? मुझे किसी मित्र का मुँह अच्छा नहीं लगता, किसी जगह जाना अच्छा नहीं लगता।

घर बैठने को तो मन ही नहीं होता। दिन भर यही चिन्ता लगी रहती है कि कहीं कोई मैना के साथ बात न कर जाय, कहीं कोई उसकी हँसी न सुन जाय। फिर इससे भी बड़ा एक और संकट है। उसे किससे कहूँ? मैना से कहता हूँ तो उसे बुरा लगता है। दूसरे किसी से कहता हूँ तो वह हँसता है। नहीं कहता तो अन्दर-ही-अन्दर घुटता रहता हूँ। कई बार मैना के ऊपर क्रोध आता है, स्त्री-शिक्षा पर घृणा होती है। मैना की अपेक्षा किसी मूर्खा या कुरूपा से शादी हुई होती तो कम-से-कम इतनी निश्चिन्तता तो रहती कि मेरे सिवाय कोई और उसकी ओर न देखता। लेकिन ये शिक्षा के दिन हैं और सब स्वतंत्रता के भक्त हैं। यदि सख्ती करने लगूँ तो लोग कहेंगे—"यह अच्छा पढ़ा-लिखा है कि अपनी औरत को भी बाहर नहीं निकालता।"

भगवान् करें और मैं बड़ा बादशाह बन जाऊँ तो सबसे पहला कानून औरतों को घर के भीतर बन्द करने का बनाऊँ और केवल नाक-कान कटी हुई स्त्रियों को ही सरेआम निकलने की छूट दूँ। पुराने रिवाजों का रहस्य अब मेरी समझ में आया है। जब तक यह कानून नहीं बन जाता कि कोई किसी की स्त्री को न देखे, उसकी बात न सुने, उसके गाने को सुनकर कान बन्द कर ले और जब तक इस कानून को तोड़नेवालों को मृत्युदंड नहीं दिया जाता तब तक सब औरतों को घर में बन्द कर देना चाहिए या अपढ़ और कुरूप स्त्रियों के सिवाय सबको त्याज्य समझना चाहिए। यह क्या? लेकिन किया क्या जाय? बादशाह होने की लाइन तो दिन-दिन

मिटती जा रही है। अगर पैदा होना ही था तो हजार वर्ष पहले क्यों नहीं पैदा हुए ? जाने दो।

मेरी खुशकिस्मती सिर्फ इतनी ही है कि मैना यह सब समझती है और मेरी भावना को चोट न पहुँचे तथा मुझे बुरा न लगे, इसके लिए अनेक यत्न करती रहती है। लेकिन उससे क्या ? मेरी मैना तो मुझ अकेले की मालकिन है फिर और सब इस तरह क्यों परेशान होते हैं। यदि वे सुख और आश्वासन चाहते हैं और उन्हें नहीं मिलता तो उनकी तकदीर। उसमें मैं क्या करूँ ? लेकिन कोई समझता ही नहीं। सब मुझे दुख देते हैं और मेरे प्राणों को अधिकाधिक संतप्त करते हैं। परन्तु क्या कोई मार्ग है ? मार्ग जल्दी खोजना पड़ेगा। न खोजा तो याद रखना कि स्त्री-शिक्षा बढ़ती जाती है। और आज मेरी बारी है तो कल तुम्हारी।

नई आँखों पुराना तमाशा

मैं और मेरे मित्र मिस्टर रेवड़िया शिष्य और गुरु थे। बॉस्वेल और जानसन कहो तो भी चल सकता है। मैं उनकी चाल-ढाल, कपड़े और बोली का अनुकरण करता था क्योंकि मेरे लिए महात्मा थे। मुझे उनके जीवनादर्श के प्रति श्रद्धा थी और मैं उनके वाक्‌चातुर्य पर मुग्ध था। मैं उनको दुर्जेय मानता था।

मिस्टर रेवड़िया का जीवनादर्श आज के युग का था। वे उसके पुजारी थे, उसकी रहन-सहन के भक्त थे और उससे भिन्न किसी भी वस्तु के कट्टर विरोधी थे। स्वयं पैसा कमाकर उन्होंने योरोप और अमेरिका की यात्रा की थी और आधुनिक कालीन साहित्य का भली भाँति अध्ययन किया था। वे बड़े ही चतुर, बड़े ही विद्वान्, बड़े ही नए और आधुनिक, बड़े ही फेशनेबुल और अपने मतिमंद पूर्वजों के प्रति घोर घृणा प्रदर्शित करनेवाले थे। अपनी आर्थिक स्थिति और बुद्धिबल के अनुसार मैं भी उनका अनुयायी होने की चेष्टा करता था।

हम दोनों—बड़े ही गंभीर और विस्तृत विचार के बाद—सहसा उत्साहपूर्वक एक दृढ़, विश्वसनीय और पक्षपातरहित निर्णय पर पहुँच गए थे। वह निर्णय यह था कि सारी चतुराई, सारी विद्या और सारी अक्ल आज के जमाने में ही खट से पैदा हो गई है। उन्हें विश्वास हो गया था कि भारत के मूल-निवासी जंगली थे, उनके कार्य बुद्धिहीनता तथा कायरता के सूचक थे, उनकी बुद्धि को काठ मार गया था और उन्होंने हमारे जैसे होशियार, सुसंस्कृत, सजग और चालाक सपूत पैदा करने के सिवाय और कोई काम नहीं किया।

हम अनेक बार इस निर्णय और इस कमजोरी के विषय में बातें करते, आज की संस्कृति की विशेषताओं की चर्चा करते और पहलों की मूर्खता पर हँसते। मिस्टर रेवड़िया अक्सर सबेरे दस बजे उठते। मुँह में सिगार और हाथ में चाय का प्याला लिए रहते और ड्रेसिंग गाउन पहने पड़े-पड़े अनेक समस्याओं पर वाद-विवाद करते। ऐसे ही वक्त में उनके यहाँ जा पहुँचता और बेढंगे पूर्वजों द्वारा बनाई हुई उनकी काली चमड़ी को भूलकर मन ही मन इस बात की प्रशंसा करने लग जाता कि वे कैसे सुन्दर, फेशनेबुल और अपटुडेट हैं। न होता तो हम दोनों फेशनेबुल कपड़े पहनकर बेण्ड स्टेण्ड का चक्कर मारते। उस समय हम स्वयं कुछ समय के लिए यह भूल जाते कि हम जंगली और असंस्कारी देश के रईस हैं। बाधा थी तो केवल यही कि कोई-कोई मूर्ख मुझे या मिस्टर रेवड़िया को गोआ-निवासी समझता लेकिन इसकी हमें परवाह न रहती।

मिस्टर रेवड़िया में एक दूसरा प्रशंसनीय गुण था। वह

मात्र आत्मसन्तोषी ही न थे वरन् उनका इरादा अपने सिद्धान्तों को सारी दुनिया के कोने-कोने में फैलाने का था। वे इस बात को ही सच नहीं मान बैठे थे कि प्राचीन काल के भारतीय बुद्धिहीन थे प्रत्युत उनका यह भी विश्वास था कि यदि उन्होंने आज के जमाने की कुछ बातें अपना ली होतीं तो वे भी पूर्ण मनुष्यों की श्रेणी में गिने गए होते। अपने वाक्चातुर्य पर उन्हें इतना अधिक विश्वास था कि वे बहुधा कहा करते कि यदि उनके जैसे जागरूक और बुद्धिमान् नररत्न ने विदेहराज जनक या अशोक के समय में जन्म लेने की तकलीफ गवारा की होती तो निश्चय ही हिन्दुस्तान का बेड़ा पार हो जाता—हम सब लोग जंगली बने रहने की अपेक्षा सुसंस्कृत हो जाते और इतिहास की रूपरेखा ही कुछ और होती।

एक दिन रात को हमने इस विषय पर बड़ी गहराई से विचार किया। उसके अन्त में मुझे कहना पड़ा—"मिस्टर रेवड़िया! आप इतने अधिक उत्साही हैं कि यदि आप स्वर्ग चले जायँ तो उसका नकशा ही बदल जाय।"

"सो कैसे?"

"स्वर्ग में सड़ते हुए बुड्ढे-ठुड्ढों को भी आपकी विचार-धारा से लाभ पहुँचे और वे बेचारे भी सुधर जायँ।"

"बात ठीक है।" Better late than never। स्वर्ग में ही सही, बुड्ढे-ठुड्ढों को कुछ अक्ल तो आवे।"

"यह भी ठीक है। अच्छा नमस्ते।" कहकर मैंने छुट्टी ली। मैं अपने घर गया पर मेरे मस्तिष्क से यह बात गई नहीं।

गहराई से सोचने पर अनेक प्रकार के विचार उठने लगे। यदि मिस्टर रेवड़िया स्वर्ग पहुँच जायँ और स्वर्गीय महात्माओं से मिलें तो उनके प्राचीन जीवन में क्या फेर-फार होगा, इस पर मेरी कल्पना दौड़ी। बड़ी देर तक मैं इन विचारों में डूबा रहा और उसके बाद सोया। सोया और उसके बाद जैसे जाग गया। आँखें बन्द थीं या खुलीं, इसका मुझे ज्ञान न रहा।

मुझे लगा, मैं सो रहा हूँ। और कोई एक व्यक्ति आया है तथा मेरे मित्र और पूज्य गुरु मित्र रेवड़िया का संदेश लाया है।

"आज पाँच युग बीत गए, वे स्वर्ग को सुधारने का प्रयत्न कर रहे हैं और आपको बुलाते हैं।"

"मुझे किस लिए?"

"उन सुधारों को देखने। चलना हो तो विमान तैयार है।"

मेरी पूजा की भावना उछलने लगी। कुछ घण्टे या कुछ युग पहले मिस्टर रेवड़िया के साथ हुई बातों को मैं भूल गया। लेकिन उनकी विजय देखने के लिए मैं लालायित हो उठा। झटपट कपड़े पहने और विमान पर सवार हो गया। हम उड़ने लगे। अन्त में मेरे साथी ने कहा कि लो यह स्वर्ग आ गया।

स्वर्ग को देखकर मेरे असंतोष की सीमा न रही। मुझे आशा थी कि वहाँ कुछ चौड़ी सड़कें, गहरी नालियाँ, ऊँचे मकान, बाग-बगीचे, मिल के भोंपू आदि होंगे लेकिन वह तो किसी घने वन जैसा लगा।

"यह स्वर्ग! नॉन्सेन्स!"

"जी ! यह उसका भारतीय विभाग है।"

"लगता है जैसे यहाँ के लोगों में भी अक्ल न हो।"

"महाराज !" मेरे साथी ने कहा, "यहाँ अभी अपेक्षित सुधार हो नहीं पाये हैं। कुछ युग हुए महात्मा रेवड़िया के प्रताप से पेड़ों की गिनती होने लगी है और उसके बाद कुछ कन्ट्राक्ट देने की सोची जा रही है।"

मैं हर्षित हुआ। सचमुच मेरे मित्र हैं नए जमाने के ही। शाबाश ! इसका नाम है शिक्षा।

"मिस्टर रेवड़िया ने किस प्रकार ये सुधार आरंभ किए?"

"पहले तो वे जितना हो सका उतना सारा सामान साथ लेकर आये और फिर धीरे-धीरे सबको सुधारों का आनन्द अनुभव कराने लगे।"

"अच्छा ! चलो ठीक है। मुझे जल्दी से सब दिखा दो। मैं पुराने आदमियों की तरह आलसी नहीं। वक्त बड़ा कीमती है।"

"जी हाँ ! इधर आइए", कहकर मेरा साथी मुझे लेकर एक वन में घुसा।

मेरे मित्र ने क्या-क्या नई बातें की होंगी, मैं किनको देखूँगा और वे कैसे होंगे, इस विषय में मैं सोचने लगा।

बम्बई जैसे आधुनिक शहर में रहने के बाद जंगल जरा अरुचिकर-सा लगने लगा। फिर भी अपने मित्र मिस्टर रेवड़िया के प्रताप को देखने के लिए मैं आगे बढ़ा। कहाँ तक गया, कितनी देर तक चला, इसका हिसाब न रहा।

दूर से एक बेसुरे फिडल की आवाज आई। उस ओर मुड़े तो एक तेजस्वी वृद्ध और हमारे अज्ञानी लोग, जिसे

महात्मा कहते हैं, ऐसे दिखनेवाले पुरुष को फिडल बजाते देखा। उनकी आँखों में तो तेज झलक रहा था पर मेरी अपनी दृष्टि से उन्होंने जो अपनी दाढ़ी को जो इतना बढ़ने दिया था वह इस बात का सूचक था कि वे स्वयं असंस्कृत हैं। हमारे रेवड़िया-पंथ के अनुसार तो प्रत्येक मनुष्य को प्रातःकाल—सूर्योदय से कुछ पहले ही—दाढ़ी-मूँछ सफाचट करके स्वच्छ हो जाना चाहिए। फिडल बजानेवाले महात्मा मृगछाला के ऊपर रुई का एक गद्दा बिछाए बैठे थे। उनके सामने एक ओर भिन्न-भिन्न प्रकार के सेंट की शीशियाँ पड़ी थीं। पास ही एक तसले में कुछ आइस्क्रीम जैसा दिखाई दिया। मैं चौंका और मुझे यह जानने की उत्कंठा हुई कि यह विचित्र मूर्ति कौन है। मैं पास गया और प्रणाम किया। बुड्ढे ने फिडल को बन्द कर दिया।

"महाराज, आप क्या कर रहे हैं ?"

"बेटा ! इतना भी नहीं समझते ?"

"जी नहीं।"

"अर्थशास्त्र का नियम है कि आदमियों को अपनी जरूरियात बढ़ानी चाहिएँ। उनके बढ़ाने से आदमी मिहनती बनता है, मिहनती होने से दुनिया में सुधार होते हैं।"

"मेरा आश्चर्य बढ़ा। यह तो मिस्टर फॉसेट के अर्थ-शास्त्र का सिद्धान्त है। यह यहाँ कैसे ? निश्चय ही यह मेरे मित्र का प्रताप होना चाहिए।"

"लेकिन यह आप क्या करते हैं ?"

"इतना भी नहीं समझते ! मैं अपनी इन्द्रियों को शिक्षा

दे रहा हूँ। विषय लालसा बढ़े बिना जरूरियात नहीं बढ़ सकतीं। रसानुभव के लिए यह आइस्क्रीम है, गंध के लिए यह सेंट है, स्पर्शसुख-भोग की शिक्षा के लिए यह गद्दी है और अपने में संगीत के संस्कार जगाने के लिए यह फिडल है।"

"अब केवल शेष रहा रूप, मुझसे कहे बिना न रहा गया।"

"उसे भी मैं भुला देनेवाला नहीं। मैंने ग्रीस देश के शिल्पकारों की कितनी ही नग्न मूर्तियाँ मँगाई हैं।"

"वे यहाँ कैसे?"

"तुझे मालूम ही नहीं? लगता है, तू नया आया है। अभी-अभी कुछ दिन हुए यहाँ एक महात्मा की प्रेरणा से एक बड़ा भारी आश्रम स्थापित हुआ है। उसमें अनेक प्रकार के साधन मिलते हैं।"

"वह महात्मा कौन हैं?"

"रेवड़िया नाम के हैं।"

"हैं!" मैं हर्ष-विभोर होकर बोला।

"हाँ, पहले तो हमें इन सब बातों का ज्ञान न था पर इस गृहस्थ के आने से हमारी आँखें खुल गईं। अब हम सुसंस्कृत होने लगे हैं।"

"लेकिन महाराज! रूप, रस, गंध आदि का मजा लेने के लिए आपको इतना अभ्यास करना पड़ता है। यह सब बड़ी सरलता से सीख लेते हैं।"

"भाई! तुम सब भाग्यवान् हो। हम तो जंगली थे। उसमें भी मैं सबका शिरोमणि। इस बात को कोई छः हजार

वर्ष हो गए। मैंने एक ढोंग किया था, जिससे मैं स्वयं मूर्ख रहा और दूसरों को भी मूर्ख रखा।"

"ढोंग कैसा?" तिरस्कार की दृष्टि से बुड्ढे को देखते हुए मैंने पूछा।

"मेरे मूर्ख मन को ऐसा लगा कि रूप, रस आदि का त्याग करना चाहिए क्योंकि वैराग्य धारण करने से ही मनुष्य सुसंस्कृत कहा जाता है। भाई! ऐसा करते हुए छः हजार वर्ष बीत गए और उसी कष्ट से ये समस्त इन्द्रियाँ विरागी हो गई हैं। अब इन्हें सुधारने में कठिनाई होती है। कौन जानता है कि मैं कब सुसंस्कृत होऊँगा?" निश्वास छोड़ते हुए उन्होंने कहा।

"महाराज! क्षमा करें, मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप पूर्वजन्म में कौन थे?"

"मैं? भाई, रहने दे। मुझे सब लोग वशिष्ठ कहते थे।"

"कौन महात्मा वशिष्ठ!" मैं बोल उठा। 'प्रभु' कहकर मैं सहसा अपने सिद्धान्तों को भूलकर इस आदिऋषि को दण्डवत्-प्रणाम करने ही वाला था कि उन्होंने मुझे रोक दिया।

"बच्चा, तू मूर्ख है। मैं इस सम्मान के योग्य नहीं। महात्मा रेवड़िया ने विश्वास दिला दिया है कि मैं मूर्ख हूँ। अच्छा, अब बहुत हो गया। मेरा एक शिष्य यह ग्रीक मूर्ति ले आया है। मेरी साधना में बाधा पड़ती है।"

"मैं चुपचाप वहाँ से खिसक आया। मेरे मन को बड़ी प्रसन्नता हुई और मैंने सोचा कि यदि इसी प्रकार रेवड़िया-

पंथ बढ़ता गया तो निस्संदेह स्वर्ग का सुधार हो जायगा। धीमे-धीमे फिडल की बेसुरी आवाज फिर कान में पड़ने लगी। मैं अपने साथी को लेकर पीछे लौटा और मिस्टर रेवड़िया की बुद्धि की प्रशंसा करने लगा।"

कुछ दूर गए होंगे कि एक बड़े वृक्ष के थाले में एक दूसरा बुड्ढा गर्दन मरोड़े पद्मासन लगाये बैठा था। उसकी तेजोमय कान्ति और सफेद लम्बी दाढ़ी सम्मान की भावना उत्पन्न करनेवाली थी। आसपास बहुत से लोग हाथ में छोटी-छोटी थैलियाँ लिए खड़े थे और वह अपने किसी शिष्य से बातें कर रहा था। मैं पास गया, नमन किया और खड़ा हो गया। महात्मा ने मुझे देखा और पूछा—

"नया आया है?"

"जी हाँ! यहाँ आपके दर्शनों का लाभ लेने के लिए आया हूँ।"

"देख! मुझे फुर्सत नहीं। ये सब लोग मेरे दर्शनों को तरसते रहते हैं इसलिए अपनी बात संक्षेप में कह।"

"महाराज! मैं तो केवल यही जानने के लिये आया हूँ कि ये सब क्या कर रहे हैं।" मैंने कहा।

"इतना भी नहीं जानता? इन सबको धर्म और आचार के विषय में मेरी सम्मति की आवश्यकता है अतः ये मेरे पास आने को कष्ट सहते हैं।"

"लेकिन यह थैलियाँ कैसी हैं?"

"क्यों? इनमें से जो सबसे अधिक पैसा देगा उसी के लाभ का धर्म-वचन मैं कहूँगा। मैं सृष्टि का आदि-स्मृतिकार था।"

"कौन, महात्मा मनु ?" मैंने फिर प्रणिपात करते हुए कहा।

"हाँ, पहले मैंने एक धर्मशास्त्र बनाया था लेकिन उस समय मैं जरा जंगली था इसलिए सबके लिए शास्त्र बन गया था। मैं समझता था कि बिना स्वार्थ के धर्म का विकास करना ही श्रेयस्कर है।"

"तो अब आप उस शास्त्र के सिद्धान्तों को उस प्रकार बेच रहे हैं ?"

"पागल ! पहले मैं जंगली था इसलिए मुफ्त धर्म सिखाता था। अब एक महात्मा के प्रताप से हम सुसंस्कृत हो गए हैं। आज तो जो अधिक मूल्य देता है उसी के लाभार्थ मैं अपनी सम्मति देता हूँ क्योंकि जहाँ पैसा है वहाँ न्याय है।"

"वे महात्मा कौन—रेवड़िया ?" मैं हर्षित होकर बोल उठा।

"हाँ वही ! जाओ ! मेरा कीमती वक्त खराब होता है।" लेकिन उसके यह सब कहने के पहले ही मैं वहाँ से चल दिया। इसका मुझे तनिक भी ख्याल नहीं था कि मिस्टर रेवड़िया का असर इतना गहरा होगा। शाबाश मेरे शेर ! आधुनिक युग के समर्थक के रूप में तेरा नाम इतिहास में अमर होकर रहेगा।

"भाई !" अपनी एक शंका को दूर करने के लिए मैंने अपने साथी से पूछा, "ये सब इतने ज्यादा परेशान क्यों रहते हैं ?"

"कह नहीं सकता। भारतीय विभाग के समस्त श्री

पुरुष ऐसे ही रहते हैं। वासनाओं के त्याग और इन्द्रिय-निग्रह के कारण इनका स्वभाव ऐसा विचित्र हो गया है कि महात्मा रेवड़िया के सिद्धान्तों को स्वीकार करने में उन्हें बड़ी ही कठिनाई होती है।"

"कोई चिन्ता नहीं! आखिर विना सुसंस्कृत हुए वे जायँगे कहाँ? ठोक-पीटकर सबको उनके पुराने जंगलीपन से निकालना ही होगा।" मैंने उत्तर दिया।

और अधिक क्या कहूँ? हम खूब घूमे और बहुत कुछ देखाभाला। सर्वत्र रेवड़िया-पंथ की दिग्विजय दिखाई दी। मेरी छाती फूल गई। वहाँ के एक-दो दृश्यों का, जो बड़े ही रसमय हैं, चित्रण करके मैं अपनी स्वर्ग की यात्रा का वर्णन समाप्त करूँगा।

मैंने भगवान् चाणक्य को देखा। मिस्टर रेवड़िया के निर्देशानुसार वे कार्यदक्षता (Efficiency) का पाठ पढ़ते दिखाई दिए। जो महात्मा इतिहास में राजनीतिज्ञ-शिरोमणि थे और जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन लगाकर अखिल भरतखण्ड में मौर्य-साम्राज्य की स्थापना की थी उनको भी यह स्वीकार करते देखा कि आधुनिक युग के अनुसार चलने से ही कार्यदक्षता आती है। उन्होंने मृगछाला छोड़कर मेज-कुर्सी पर बैठना स्वीकार कर लिया था। परन्तु पद्मासन की आदत होने से कुर्सी पर भी पद्मासन लगाए बैठे थे। धोती से कार्यदक्षता न आने के कारण उन्होंने कोट-पतलून और बड़े बूट पहन रखे थे। जटाओं से कहीं लापरवाही का समावेश न हो जाय, इसलिए सर पर हैट डाटा हुआ था। अहा

हा ! हमारे सिद्धान्तों की कैसी दिग्विजय थी। बात यह है, कि जब तक मनुष्य मेज-कुर्सी पर नहीं बैठता, कोट-पतलून और बूट नहीं पहनता तथा सर पर हैट नहीं लगाता तब तक उसमें कार्यदक्षता और बड़प्पन नहीं आते। यदि महात्मा चाणक्य को इन सब बातों का पहले पता होता तो निस्संदेह मौर्य-साम्राज्य का झण्डा न केवल भारत में वरन् सारे एशिया में फहराता।

इससे भी अधिक आकर्षक दृश्य एक दूसरे स्थान पर देखा। मैंने आठ-दस जनों की एक टोली देखी।

"भाई !" मैंने अपने साथी से पूछा, "ये सब कौन हैं ? मैं तो इनमें से केवल इस नुकीली दाढ़ीवाले को ही पहचान पा रहा हूँ।"

"जी ! ये मुगल-गर्व को खर्व करनेवाले महाराज शिवाजी हैं। ये जो खड़ाऊँ पहने और हाथ में फर्सा लिए खड़े हैं, महावीर परशुराम हैं। ये ग्रीक-साम्राज्य को छिन्न-भिन्न करने-वाले वे प्रतापी चन्द्रगुप्त मौर्य हैं, जिनका डंका दशों दिशाओं में बजता था और ये जो पेड़ का सहारा लिए खड़े हैं, महा-राजाधिराज श्री हर्ष हैं।"

"ओ हो हो ! लेकिन वह साधु इनसे इतने जोश में आकर क्या कह रहा है ?"

"यह साधु जैसा महात्मा है वैसा ही जड़भरत भी। यह पहले यह सोचकर कि जीव-जन्तु को कष्ट न पहुँचे जमीन पर पैर रखने में भी डरता था।"

"अच्छा ! अब वह क्या कहता है ?"

"वह इन योद्धाओं को भाषण दे रहा है ?"

"किसके ऊपर ?"

"इस भरत ने नया पंथ स्वीकार किया है और वह सबसे कहता है कि आर्य नपुंसक और कायर हैं। कारण, वे साग-भाजी खाकर रहते हैं। वह इन सब वीरों को मांसाहारी बनने की सम्मति दे रहा है क्योंकि उसके बिना शौर्य और साहस नहीं आ सकता।" मैं समझा।

"वाह ! शाबाश मेरे रेवड़िया ! मैं तुम्हारी कैसे प्रशंसा करूँ ?" कहकर मैं वहाँ से चला।

आगे चलकर मैंने भगवान् बुद्ध देखे। वे भी सुसंस्कृत हो गए थे और एक बीमार आदमी से कह रहे थे—"यदि तू बीमार हो गया तो तेरा भाग्य। सृष्टि के नियमानुसार ही तो मनुष्य जियेगा। दुनिया में आपा-धापी होनी चाहिए, मार-काट होनी चाहिए और यदि कोई निर्बल हो तो उसका भाग्य।" मुझे डार्विन की याद आई और निश्चय हो गया कि भगवान् बुद्ध ने ये शब्द मिस्टर रेवड़िया से ही सुने होंगे।

इस प्रकार घूमते-घूमते जो अन्तिम अनुभव हुआ वह अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण है और इस बात का द्योतक है कि आधुनिक युग के सिद्धान्तों का स्वर्ग में कितना व्यापक प्रचार हो गया है।

एक दुर्बल मनुष्य पृथ्वी पर पड़ा था। उसके पास वल्कल पहने हुए एक युवा स्त्री पैरों में ऊँची एड़ी के जूते और नाक पर चश्मा चढ़ाए गुस्से में भरी खड़ी थी।

"सती ! मेरे प्राण निकले जा रहे हैं । मुझे जरा पानी दे", बड़ी कठिनाई से साँस लेते हुए पुरुष बोला ।

"मर रहा है तो भी चुप नहीं रहता । सत्यवान ! तुम बीमार थे तो शादी क्यों की ? यदि तुममें मेरी माँगें पूरी करने की सामर्थ्य न थी तो नारद को सगाई करने क्यों भेजा था । तुम जैसों को स्त्री पाने का क्या अधिकार है ?" हाथ पर हाथ मारकर सावित्री ने कहा ।

"सावित्री ! जो हुआ सो हुआ", मृत्यु के किनारे पहुँचे हुए सत्यवान ने दीनता से कहा, "लेकिन जरा तो रहम खा । तू कहे सो करूँ । चाहे जैसा होऊँ पर हूँ तो तेरा पति ।"

"इससे क्या ? मैं कोई गुलाम नहीं हूँ । तुम्हें अपने लिए मेरी जिन्दगी बिगाड़ने का क्या हक था ? अच्छी बात है, लो पानी देती हूँ पर तुम्हारी जो कुछ जायदाद हो उसे मेरे नाम कर दो ।"

"क्या यह उसका समय है ? पहले धन की चिन्ता ! अरे रे ! इस समय यह क्या कहती है ?" सत्यवान ने कहा ।

इतने में यमराज आए । सत्यवान को पकड़ा । सावित्री ने सत्यवान का पैर पकड़ा ।

"बाई, बाई !" यमराज ने कहा, "यह क्या करती है ? मरते मनुष्य को ऐसे खींचती है । क्यों पैर नहीं छोड़ती ? तेरे पति की मृत्यु आ गई है ।"

"जाने कैसे दूँगी ? कब से कह रही हूँ, पर यह मानता ही नहीं । जब तक यह मेरे नाम वसीयत नहीं करेगा तब तक मैं इसे नहीं छोडूँगी और इसका पैर पकड़े ही नहीं जाऊँगी ।"

"परन्तु तुझे और कुछ चाहिए तो माँग, मैं दूँ पर इसे छोड़ ! मुझे जल्दी है।"

"अच्छा ! तो एक दूसरा इससे भी अधिक सुन्दर और सशक्त पति··· ···।"

एक क्षण में यमराज अन्तर्धान हो गए। सत्यवान और सावित्री भी अदृश्य हो गए। मैं अपने कमरे में बिस्तर पर पड़ा था। चौंक कर जागा। स्वर्ग गया, स्वर्गीय महात्मा गये फिर भी मैं प्रसन्न था। चारों ओर रेवड़िया-पंथ का जय-जयकार हो रहा था। मिस्टर रेवड़िया जैसे सपूत पूर्वजों की अपेक्षा कहीं अधिक सुसंस्कृत होते जा रहे थे।

———

अपनी सफाई

यह तो मैं नहीं कह सकता कि जब मेरा जन्म हुआ तब मेरे माँ-बाप किसी कारण डरे हुए थे या किसी ग्रह-नक्षत्र या राशि का कोप होने से काँप रहे थे या उन्होंने अज्ञानवश उतावली में मेरी खोपड़ी की आगे निकली हुई हिम्मत और मर्दानगी की हड्डी को दबा दिया था लेकिन इतना अवश्य है कि मेरे जैसा आदमी, जिसके स्वभाव में हिम्मत जैसी चीज नाम को भी न हो, सारे संसार में खोजने पर भी मुश्किल से मिलेगा।

यदि मेरी माँ का कहना सच है तो बचपन में मेरे जैसा शान्त लड़का दूसरा कोई न था और मैं रोता भी था तो तब जब कि बिलकुल अकेला होता था। यों मुझे रोने का चाव तो बहुत था और उसे एकान्त में पूरा करने का प्रयत्न भी करता था पर जैसे ही कोई आता वैसे ही मेरे होश-हवास गुम हो जाते और जीभ तालू से चिपट जाती। फिर रोता भी तो कैसे ?

स्कूल में भी मैं शान्त और होनहार लड़का समझा जाता था। लड़कों के डर की वजह से मैं सबसे पहले नौ बजे ही स्कूल पहुँच जाता। कभी-कभी तो उस वक्त तक स्कूल के चपरासी ने दरवाजे भी न खोले होते थे। लेकिन मुझे इससे क्या? रास्ते में कोई जान-पहचान का मिलता नहीं था। स्कूल में भी इस डर से कि कहीं मास्टर मेरा नाम न पुकार बैठे। मैं तैयार रहता और अपना नम्बर सबसे आगे रखता। और शाम को सब लड़कों के जाने के घण्टे भर बाद घर को रवाना होता। कहीं सब लड़कों के साथ भी जाया जाता है? यह विचार आते ही मुझे कपकपी आ जाती।

लेकिन एक दिन मेरा ढेर हो गया। मैं पहले नम्बर आया इसलिए नियमानुसार मानीटर बना दिया गया। मैं और मानीटर! मेरा अंग-अंग टूटने लगा। बुखार आने की तैयारी हुई। बड़ी मुश्किल से मैंने घर लिया और बीमारी का बहाना कर सो रहा। अब क्या होगा—पूरे सप्ताह कैसे क्लास में जाया जायगा—दूसरे लड़कों के साथ कैसे बातचीत की जायगी? इसी उधेड़बुन में सारी रात बीत गई। सबेरे रात्रि-जागरण के कारण वाकई बुखार आ गया। जैसे-तैसे पाँच दिन पूरे हुए। अब मैं कोई ऐसी तरकीब सोचने लगा, जिससे मुझे एक-दो लड़कों से कम मार्क्स मिलें।

जैसे-तैसे कालिज से छुट्टी पाकर मैंने नौकरी की और यथासंभव किसी से सम्पर्क न हो, इसका उपाय ढूँढ़ निकाला। हमारे आफिस में पुराने कागजात की देखभाल के लिए एक अलग क्लर्क था। उसका काम एक बड़े कमरे में बैठे रहने

भर का था। बहुत हुआ तो एकाध चूहा आ गया लेकिन बीस-पचीस क्लर्कों की फौज की अपेक्षा वह नहीं अच्छा था। वह क्लर्क मरा कि मैंने चुपचाप एक पत्र अपने बड़े साहब को लिखा और रात होते ही उसे जनरल पोस्टआफिस में डाल आया। वे मेरी बात जानते थे इसलिए झट से उस स्थान पर मेरी नियुक्ति कर दी। वेतन दस रुपये कम था तो क्या किसी का डर तो नहीं था।

मैं बम्बई से परेशान हो गया। पहले नीचे की मंजिल पर रहने का मन होता था। कारण, ऊपर की मंजिल में रहो और कल्पना करो कि बीच की मंजिल में लग जाय आग तो तुम तो रह गए न अधर में लटके हुए ? फिर कल्पना करो कि जीना तो हो सकरा और ऊपर रहते हो तुम बीस जने। अब यदि सब एक साथ उतरने लगो तो उनमें तुम्हारा कहाँ पता लगेगा ? इस विषय में और क्या कहा जाय ? छोड़ो इस बात को।

लेकिन नीचे की मंजिल पर रहने लगा तो एक दूसरी मुसीबत पैदा हुई। पहले दिन एक आदमी मिला उस समय मैं अपनी कोठरी का दरवाजा खोल रहा था। "क्यों भाई ! आज ही आए हो क्या ?" उसने पूछा। मेरे हाथ काँपने लगे। बहुतेरा जोर लगाऊँ पर ताले में ताली ही न फिरे। लेकिन वह काहे को चुप रहने लगा। फिर बोला—कहाँ के रहनेवाले हो ? मैं तो ऐसा घबराया कि भीतर छलाँग मारी और झट दरवाजा बन्द कर लिया। चुपचाप भीतर जाकर बैठ गया। मेरा शरीर पसीना-पसीना हो रहा था।

उसने मुझसे क्यों पूछा ? कहीं वह खुफिया पुलिस का आदमी तो नहीं है ? कहीं ऐसा तो नहीं कि मेरा नाम किसी षड्यंत्र में आ गया हो ? मैं दो-तीन घण्टे भीतर बैठा रहा। उसके बाद थोड़ा-सा दरवाजा खोला, इधर-उधर देखा और जब वहाँ कोई न दिखाई दिया तब झटपट ताला लगाकर भागा। कुछ दिन बाद मुझे पता चला कि कुछ आदमियों की यों ही बिना जान-पहचान के पूछताछ करने की आदत होती है। लेकिन मैं उसे कैसे बरदाश्त कर सकता था। मैंने खूब सोचा किसी अटारी में जाकर रहने पर ही शान्ति मिल सकती है लेकिन यदि वहाँ ऊपर बताए हुए भय का सामना करना पड़ा तो ? अन्त में निश्चय किया कि चाहे जो कुछ हो, पर इस प्रकार की बातें करनेवाले आते रहे तो कैसे काम चलेगा ? मुझे तो रोज जूड़ी आती है।

मैंने झट नोटिस दिया और जहाँ आजकल रहता हूँ वहाँ पाँचवीं मंजिल में एक अटारी में रहने लगा। अब मेरी जान में जान आई। हमारी चाल[१] की भी विशिष्टता है। नीचे गोदाम हैं। ऊपर की दो मंजिलों पर गद्दियाँ हैं। तीसरी मंजिलवाला परदेशी है, जो साल में तीन-चार दिन के लिए आता है और चला जाता है। चौथी मंजिल पर जो रहता है उसके यहाँ दो आदमी पागल हैं इसलिए उनकी देखभाल करने से किसी को मेरी ओर देखने की फुरसत ही नहीं मिलती।

१—बम्बई की बड़ी-बड़ी बिल्डिंगों को, जिनमें सैकड़ों आदमी रहते हैं, चाल कहते हैं।

यह है बम्बई की खूबी ! ऐसी निश्चिन्तता भी यहीं मिल सकती है। एक कष्ट है तो बस इस शहर के रास्तों का है। ट्रामवाले रास्ते तो जाना हो ही नहीं सकता क्योंकि बहुत संभव है कि बिजली का तार टूट जाय और मोटर या ट्राम उलट जाय। उसमें भी मोटरें ? उनके चलानेवाले तो बिना आगापीछा सोचे ऐसे मोटर चलाए चले जाते हैं जैसे सरकार ने उन्हें खून करने की छूट दे रखी हो। मुझसे तो कोई मोटर का नाम लेता है तो मेरे तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं। उसका हार्न सुनते ही मेरे पैर लड़खड़ाने लगते हैं। इसलिए अपने राम ने तो नियम बना लिया है कि जैसे ही उसकी आवाज सुनी कि एक ओर की दीवार के बिलकुल पास जाकर खड़े हो गए और आँखें मीच लीं। इससे रास्ते में जरा देर जरूर होती है पर इससे क्या ? जहाँ जाना हुआ, आधा घण्टे पहले चल दिए। आफिस जाना होता है तो मैं तो एकदम बाहर की चौपाटी से ही जाता हूँ। थोड़ी धूप लगती है पर कुछ डर तो नहीं है। आते वक्त भी बेलार्ड पीयर होकर बाहर-बाहर ही आता हूँ, जिससे कि कोई जान-पहचान का मिले ही नहीं।

कोई यह न समझ लेना कि मैं कम अक्ल हूँ। मैं जानता हूँ कि मैं डरपोक हूँ लेकिन मेरी यह निश्चित धारणा है कि जब तक संसार में मेरे जैसे सिद्धान्त और स्वभाव के व्यक्ति नहीं बढ़ते तब तक कदापि सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। मैं यह भी मानता हूँ कि हमारे आर्य ऋषि-मुनि जो जंगल में जाते और अहिंसा आदि का पाठ पढ़ाते थे उसका भी अंतिम उद्देश्य यही था। आजकल देखते नहीं हो कि मेरे जैसे आदमी

अधिक न होने से सरकार को कितने कानून बनाने पड़ते हैं। इस विषय पर मैंने एक पुस्तक लिखना शुरू किया है। मेरा विश्वास है, जब वह छपकर बाहर आवेगी तब इस विषय पर बड़ा प्रकाश पड़ेगा।

इसी प्रकार कोई इस मुगालते में भी न रहे कि मैं किसी बड़ी ऊँची भूमिका पर पहुँच गया हूँ या पहुँचता जाता हूँ। इस समय इस विषय की चर्चा करने बैठा हूँ तो चाहता हूँ कि इसके व्यापक प्रसार, संशोधन और अध्ययन के लिए कुछ विचार प्रकट करूँ। मैं अपने विचारों को यदा-कदा लिखता रहा हूँ और ऊपर बताई हुई अत्यंत आवश्यक पुस्तक के पूरे होते ही मैं इस दूसरे विषय को हाथ में लेना चाहता हूँ—

१. अधमातिअधम भूमिका के अधिकारी वे जो किसी से भी नहीं डरते—जानवर की तरह चाहे जहाँ घूमते हैं। अफ्रीका जाना हो, उत्तरी ध्रुव पहुँचना हो, मंगल ग्रह की यात्रा करनी हो, आप इस श्रेणी के व्यक्तियों को सबसे आगे पायेंगे। लोग ऐसों की प्रशंसा करते हैं पर मैं उन्हें धिक्कारता हूँ। कवित्वशक्ति की भाँति डर अनुभव करने की शक्ति भी ईश्वर-प्रदत्त है। उसकी बदौलत मनुष्य अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म, सरस और कुछ अद्भुत अनुभव प्राप्त कर सकता है। जिसमें यह शक्ति नहीं, वह जड़ है—'साक्षात्पशुपुच्छविषाणहीनः' है।

२. अधम डरपोक—जो घातक वस्तुओं जैसे कि बाघ, सिंह, रेल, अग्नि आदि से डरते हैं।

३. मध्यम डरपोक—जो वस्तु स्थिति के भयंकर होने के पहले ही उसे भयंकर मानकर तदनुसार व्यवहार करते हैं।

उदाहरण के लिए भूल होने पर मृत्यु होगी, यह सोचकर वसीयत करते हैं।

४. डरपोक—जो कुछ हो उसी वस्तु से—उदाहरणार्थ भूत, प्रेत, गड़गड़ाहट और बिजली से डरते हैं।

५. उत्तम डरपोक—जो डरने का कारण न होने पर भी डरते हैं।

६. श्रेष्ठ डरपोक—जिनके लिए कोई कारण ही आवश्यक नहीं बल्कि जो अकल्प्य कारण से भी डरते हैं। यह भूमिका उत्तमोत्तम है और मेरी मान्यता के अनुसार निर्विकल्प समाधि के साथ इसका गहरा सम्बन्ध है। इसकी सत्यता के लिए मैं आगामी वर्ष पतंजलि के योगदर्शन का पारायण करनेवाला हूँ। यही नहीं मेरा तो यह भी विश्वास है कि यह स्थिति शेक्सपियर जैसों की कवित्वशक्ति से कुछ-कुछ मिलती है। मैं स्वयं इस भूमिका को प्राप्त कर चुका हूँ, यह कहने की अब कोई खास जरूरत नहीं रह गई है।

मुझे अब और कुछ नहीं कहना है। केवल अपनी ऊँची और अध्ययन से तीव्र हुई बुद्धि के दो-चार नमूने अवश्य पेश करना चाहता हूँ क्योंकि उनसे भविष्य में मेरे पद-चिह्नों पर चलनेवाले किसी उत्साही डरपोक को इस बात का पता चल जायगा कि वह इस होशियारी में कितनी डिग्री आगे बढ़ा है।

तीन वर्ष हुए, एक घटना घटी। मेरी घरवाली की तबियत दिन-ब-दिन सुधरती गई और वह खूब तन्दुरुस्त हो गई। किस प्रकार मेरा विवाह हुआ और किस प्रकार अपनी अर्द्धांगिनी के साथ मेरा परिचय हुआ, यह लम्बा विषय है और उसका

प्रत्येक प्रसंग ऐसा गम्भीर, ऐसा रसमय और ऐसा भयंकर है कि उसके लिए एक पूरी पुस्तक अपेक्षित है। फिर ये प्रसंग बचपन में घटित होने के कारण उन पर बहुत-सी तहें भी जम गई हैं। अस्तु! तीन वर्ष हुए, मेरी घरवाली ऐसी फैली कि उसे अपना शरीर सँभालना भी कठिन हो गया। मैं घबराया कोई भयंकर रोग तो नहीं है? उससे डाक्टर के यहाँ जाने की प्रार्थना की पर वह टस से मस न हुई और मेरी घबराहट बढ़ती चली गई।

मैंने कहीं पढ़ा था कि स्त्रियाँ अपनी रोग छिपाने की आदत के कारण डाक्टर के यहाँ नहीं जातीं। मुझे विश्वास हो गया कि अवश्य कोई-न-कोई भयंकर रोग है। मेरी घरवाली का रंग अधिकाधिक लाल होता गया। शंका हुई कि कहीं ठोड़ी दुहरी-तिहरी न हो जाय। चरबी की अधिकता से हृदय की गति रुक जाती है, यह बात याद आई। इसके याद आते ही कपकपी छूटी। कपकपी छूटते ही पुस्तक खरीद लाया और महीने भर तक रोग की चिकित्सा का अभ्यास किया। अर्द्धांगिनी चौगुनांगी होने लगी। मुझे उसकी मृत्यु पास आती दिखाई दी। रात-दिन मुझे नींद न आती। मैं यह विचार करने लगा कि यदि वह मर गई तो किस-किस सामग्री की आवश्यकता होगी। जाति के लोगों ने तेरहवीं या वर्षी करने के लिए कहा तो की जायगी या नहीं, यह दुविधा उत्पन्न हुई। नाते-रिश्तेदारों ने दूसरी शादी करने के लिए कहा तो क्या जवाब दिया जायगा, यह सोचने लगा। यदि ठोंक-पीटकर दूसरी शादी कर भी दी गई तो वह कैसी निकलेगी, इसका

निश्चय करने बैठा। इन सब बातों ने मुझे घबरा दिया, बेचैन कर दिया। कितने ही दिनों तक अकेला परेशान घूमता रहा। चिन्ता के कारण बुखार आ गया। बुखार के कारण छुट्टी लेने की जरूरत पड़ी। इस पर जब साहब ने डाट पिलाई तब कहीं मेरा डर दूर हुआ।

दूसरी बार मैं एक सभागृह के सामने से जा रहा था कि हरएक आदमी को हिम्मत रखनी चाहिए, हिम्मतवाला होना चाहिए, ये शब्द मेरे कानों में पड़े और मैं ऐसे चौंका जैसे बिजली गिरी हो। हरएक आदमी हिम्मतवाला हो, इसका मतलब ? सरकार को ऐसे भयंकर और घातक विचारों को सख्ती से दबा देना चाहिए।

सब हिम्मतवाले ! फिर मेरा क्या ? मेरे जैसों का क्या ? हमारी तीव्र हुई संस्कारी डरपोकवृत्ति का क्या ? इस विचार के आते ही मुझे लगा कि दुनिया ऐसे भाषणकर्त्ताओं के कारण ही त्रस्त है। उनको रोकने के लिए कुछ-न-कुछ अवश्य करना चाहिए। लेकिन क्या ? मुझे क्या करना चाहिए ? सोचा, क्या भाषण दूँ ? हाय, हाय, यह कैसे हो सकता है ? कुछ लिखूँ ? मेरा निश्चय व्यर्थ हुआ। हिम्मत के खिलाफ जेहाद बोलूँ।

लेकिन फिर ? पिनल कोड याद आया। घृणित कानून—हरजाने का दावा—हाईकोर्ट—सॉलीसिटर—बैरिस्टर— अदालती झंझट—ये सब मेरे लेख में से निकले तो ! तीन दिन तक मैं घबराया—घबराकर एक वकील मित्र के यहाँ गया और किताबें ले आया। इस विषय के कायदे-कानून का अध्ययन

किया। दूसरे सन्देह उत्पन्न हुए और मैं डरने लगा। इस प्रकार एक लेख लिखा पर उसे काटने और लिखने में ग्यारह वर्ष लग गये। पाँच गिन्नियाँ खर्च कर एडवोकेट जनरल की राय लेने का विचार किया। तब कहीं जाकर मैं अपना लेख लिख पाया।

मेरा दरवाजा कौन खटखटा रहा है? कहीं ऐसा तो नहीं कि पुलिस वारंट लेकर आई हो और जानना चाहती हो कि मैं क्या लिख रहा हूँ? यदि ऐसा न हुआ तो मैं अपनी यह सफाई अवश्य प्रकट करूँगा।

———

स्मृतिलोक की सुन्दरी

विदेहराज जनक ने ऋषि अष्टावक्र से पूछा—"यह सच है या वह ?" ऋषि ने जवाब दिया—"दोनों झूठ हैं।"

क्या ऋषि झूठे नहीं हो सकते ? उन्होंने तत्त्वज्ञान का विकट झाड़ियों में रास्ता भूलकर भ्रमवश तो कहीं ऐसा नहीं कह दिया ? दोनों ही—सच कही जानेवाली यथार्थ सृष्टि और झूठी मानी जानेवाली स्वप्न या कल्पना की सृष्टि—सच क्यों नहीं हैं ? मीराबाई के लिए क्या सच था ? प्रभावशाली चित्तौर का पत्थर का किला या कल्पना-जगत् का वैकुंठ, हजारों वीरों का नेता राणा कुंभा या मन में ही कल्पित नटवर गिरिधारी ?

स्मृतिपुजारी, वियोगी, प्रेमयोगी के लिए क्या सच है—वर्षों पहले अनायास लिया हुआ एक छोटा-सा चुम्बन या पचास वर्ष तक साथ रहनेवाली विवशता से स्वीकार की गई और स्थूल देहवाली सहधर्मचारिणी ? मीराबाई ने वैकुण्ठ में विहार करने के लिए चित्तौर त्याग दिया, प्रेमयोगियों ने उस

चुम्बन को याद रखने के लिए संसार-सुख को व्यर्थ ठहराया। कौन बता सकता है कि दोनों सृष्टियों में कौनसी सच है और कौनसी झूठ?

बम्बई की वर्षा रूपगर्विता लाड़ली प्रियतमा से भी बुरी है। आकाश में चाँदनी छिटक रही हो और आपने 'अभी लौटता हूँ' कहकर बिना छत्री के बाहर जाने की हिम्मत की कि दूसरे ही क्षण ऐसा मूसलाधार पानी पड़ेगा कि गोवर्धन पर्वत की जरूरत पड़ जाय। बादलों की गंभीर गर्जना से डरते-डरते ओवरकोट पहने और हाथ में छत्री लिए सात दिन तक घूमते रहिए पर न तो गर्जना बन्द होगी और न एक बूँद पानी पड़ेगा।

एक दिन मैं नाटक देखने गया तो बम्बई के आकाश को ऐसी लटक दिखाने की सूझी। एक बजे नाट्यशाला से बाहर निकलकर देखा तो आकाश शान्त और रुपहला लगा। मेरी जेब में पैसों का सदा टोटा रहता है इसलिए अपनी कोठरी तक पैदल जाने का ही निश्चय किया। लेकिन गिरिगाँव पोस्टआफिस तक पहुँचते-पहुँचते बादल टूट पड़ा। कुछ-कुछ ऐसा आभास होने लगा जैसे दूसरे दिन सबेरे प्रलय होनेवाला है। अब कहाँ जाऊँ, कहाँ बैठूँ, यह कुछ समझ में नहीं आया। छत्री में से आनेवाली धाराएँ मेरे सर और मेरे कपड़ों पर रुद्री करने लगीं। मेरा शरीर भी अन्दर से इस बात की गवाही देने लगा कि मेरे कोट के नीचे की कमीज भी तर हो गई है। विवश होकर मैंने दृढ़ निश्चय किया और नीचा सर किये तेजी से आगे बढ़ा।

कुछ ही दूर गया था कि सहसा मेरी गति रुक गई। किसी ने मेरा हाथ पकड़ लिया। मेरे हाथ की छत्री जरा टेढ़ी हो गई और वर्षा की झड़ी ने मुझे अन्धा बना दिया। मैं चौंका। मेरी समझ में यह नहीं आया कि इस अन्तराय का कारण क्या है ? उसके बाद मैंने जल-बिंदुओं के पर्दे में से नजर डाली। दूर पर लगे लेम्प की रोशनी ने कुछ प्रकाश दिया। मेरा हाथ पकड़नेवाला कौन है, यह देखकर मेरे होश-हवास उड़ गये और मैं मेघ महाराज की भयंकर कृपा के प्रसार को भूल गया। एक स्त्री ने मेरा हाथ पकड़ रखा था। मैं काँप उठा।

वर्षा की बूँदों और लैम्प की रोशनी से प्रकट होनेवाले स्वप्निल वातावरण जैसे सुन्दर, मधुर और कम्पित प्रकाश में मैंने एक सुन्दरी— एक बालिका देखी। देखते ही उसका अपूर्व सौंदर्य मेरे मन में सदा को बस गया। विधाता ने उसके मुख पर अपूर्व छटा से सुकुमारता की रेखाएँ खींची थीं। उसकी दयनीय, भयभीत और अश्रुपूर्ण आँखों की जादूई कमानें ऐसी काँप रही थीं जैसे वे छूटने की तैयारी कर रही हों। डर के मारे उसके ओठ सूख गये थे। अनेक भावों के घात-प्रतिघात से तमतमाता हुआ मुख—रूप की राशि से दीपित होता हुआ भी निराशा तथा भय से विवर्ण मुख—न कही जा सकनेवाली और न देखी जा सकनेवाले दीनता से मेरी ओर देख रहा था। इस बालिका की मुखमुद्रा ऐसी थी जैसी कि बाण से बिंधने के भय से भागती हरिणी की मृत्यु के समय होती है। क्षण भर में ही मैंने यह सब देख लिया।

मैं स्वार्थी था। उस समय मैं स्वयं अपनी बात सोच रहा था। उस हाथ पकड़नेवाली स्त्री से कैसे छुटकारा मिले?

संसार के पाखंड से परिचित मुझे नाना प्रकार की शंकाओं ने घेर लिया।

वर्षा की झड़ी और दुःख के आवेग से उसके कर-पल्लव काँप रहे थे और वह कह रही थी—"भाई! भाई! मुझे ले चलो। मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ। ये सब मुझे मार डालेंगे। हे भाई! भगवान् तुम्हारा भला करेंगे।" स्वर में वीणा बज रही थी पर थी वह टूटी हुई वीणा के बेसुरे तारों की झंकार।

मैंने शंकाओं को दूर करके फिर उसका मुख देखा। बिना कारण समझे ही उसकी करुण दशा का कुछ अनुमान हो गया।

"बहन! तुम्हें क्या कष्ट है?"

"फिर बताऊँगी। अभी यहाँ कोई आ जायगा", उसने जल्दी से कहा। "मुझे पकड़ ले जायगा। मुझे ले चलो, मुझे बचा लो।" उसने डरते-डरते पीछे देखा। कोई पीछे आ रहा है, इसका भय उसके मुख पर स्पष्ट दिखाई दे रहा था।

मैंने भी निरुपाय होकर उसी ओर देखा जिस ओर कि उसने देखा था। दुःख की मारी अबला को ले जाकर मैं कहाँ रखूँगा? उसकी क्या स्थिति है, क्या इतिहास है, इसे कौन जानता है? यदि दूसरे दिन अदालत में स्त्री भगाने के अपराध में खड़ा होना पड़ा तो क्या होगा? सच्चे वीरों का-सा साहस मुझमें न था, उनकी दुःख दूर करने की दृढ़ वृत्ति का अंश मुझमें न था, मैं तो आधुनिक युग का स्वार्थी

और भीरु प्राणी था। सामने जैसी अबला थी वैसा ही मैं भी बलहीन था।

वर्षा धुआँधार होती रही। काफी देर हो गई। मैंने बड़ी मुश्किल से कहा—"इधर आओ।"

"अरे भाई! क्या सोच रहे हो? मेरे प्राण चले जायँगे। तुममें कुछ दया है कि नहीं?"

मैं अधम, पापी और कायर था इसलिए वैसे ही निराश स्वर में पूछा—"कहाँ ले जाऊँ?"

मैं घबरा गया था। मुझे इसका भी ज्ञान था कि मैं क्या कह रहा हूँ? इस प्रकार पाँच कीमती मिनटें बीत गईं।

"कहाँ क्या? चाहे जहाँ।" कहकर उसने घबराई हुई दृष्टि से पीछे देखा। उसकी आँखों का भय बढ़ा। उसने मेरा हाथ छोड़ दिया। जैसे पीछे से कोई दौड़ता आ रहा हो ऐसी आवाज सुनाई दी। मुझे कुछ भी सुध-बुध न रही।

बालिका मेरा हाथ छोड़कर भागी। कीचड़ में उसका पैर फिसला। वह गिर पड़ी। पीछे से कछोटा मारे और हाथ में लट्ठ लिए एक आदमी दौड़ता हुआ आया। मैं कुछ कहूँ न कहूँ कि इससे पहले ही उसने जमीन पर गिरी हुई असहाय बालिका पर एक वार किया। बालिका की चीख से मेरे कान फट गए।

"अरे रे!" कहकर साहसहीन मैं अवसर निकल जाने के बाद साहस बटोर कर आगे आया।

"चल, तू अपना रास्ता ले। पति-पत्नी के बीच में

तुझे बोलने का क्या अधिकार है ?" कहकर उस यमदूत ने लकड़ी हाथ में घुमाई ।

जैसे उसके शब्दों में श्रुति का कथन व्याप्त हो ऐसे मैंने गर्दन नीची कर ली और घबराता हुआ इस डर से कि कहीं मेरा काम तमाम न हो जाय—मैं वहाँ से भागा । चलते समय मैं उस जमीन में पड़ी हुई बालिका की ओर भी न देख सका ।

मैं पचास कदम चला और खड़ा हो गया । मुझे अपनी नीचता का ख्याल आया । मनुष्यता की परीक्षा में मैं निकम्मा साबित हो चुका था । उस बालिका का मुख और उसका जमीन में पड़ा हुआ शरीर मेरी आँखों के आगे घूमने लगा । मैंने पीछे देखने का प्रयत्न किया पर पानी की धाराओं के पट के कारण कुछ दिखाई न दिया । पीछे लौटने की इच्छा हुई लेकिन भीरु हृदय ने वह इच्छा पूर्ण न होने दी । मैं आज-कल के सामान्य मनुष्यों से कुछ कम साहसी नहीं था परन्तु ऐसा कौन है जो चाहे जैसे संकट में पड़ी एक अपरिचित बाला को उसके पति से छीनकर अपने घर ले आने का साहस कर सके ? आधुनिक युग और आधुनिक शिक्षा ऐसा करने देंगे, ऐसा मुझे नहीं लगता । अब हम सयाने ज्यादा होते जा रहे हैं ।

मैं घर पहुँचा पर पल भर भी नींद न आई । उस अस-हाय बाला का मुख हर समय मेरे सामने रहता । वह प्रति-क्षण मुझसे दीनता से पूछती—दया है कि नहीं ? मैं भाग आया था इसलिए मैंने अपने को हजार बार धिक्कारा । मेरी कायरता की पराकाष्ठा मुझे सालने लगी ।

सबेरा हुआ और मैं घर में न रह सका। सूर्योदय होते ही रात की स्मृतियाँ स्वप्न जैसी लगने लगीं। मैं भूलेश्वर पहुँचा। जिस स्थान पर मैं खड़ा था और जिस स्थान पर वह बाला पड़ी थी उसे याद करने लगा। यह अनुभव यथार्थ था या मन का भ्रम-मात्र? नहीं, भ्रम कैसे हो सकता है? दिन होते हुए और लोगों की भारी भीड़ होते हुए भी एक सरस किन्तु दुःख से पीड़ित मुख मेरी आँखों के आगे घूम रहा था। कोई मरणासन्न कोकिल के स्वर में पूछ रहा था— "दया है कि नहीं?" एक भयंकर चीख मेरे कानों में पड़ रही थी।

मैंने इधर-उधर देखा। वह एक लम्बी-चौड़ी चाल में से निकली थी। उसमें जाकर कैसे पूछूँ? मैं यह सोचकर कि कदाचित् कहीं अचानक भेंट हो जाय, ऊपर-नीचे देखने लगा। ऊपर जाकर क्या करूँगा? खिन्नहृदय से मैं वापस लौट आया।

मेरा वहम बढ़ने लगा। वह मुख, वह प्रश्न और वह चीख सदा मेरे मन में बने रहते। अपना काम करते हुए क्षण-क्षण वह चीख सुनाई देती और तनिक-सी शान्ति मिलते ही वह प्रश्न कानों से टकराता। चाहे जिसकी बात कर रहा होऊँ, वह दुःख आड़े आ जाता। सबेरे, दोपहर, शाम और कभी-कभी तो आधी रात के समय जाने-अनजाने पैर भूलेश्वर की ओर उठ जाते और उसी अविस्मरणीय स्थान पर जाकर रुकते। उस रात का खेला हुआ खेल फिर खेला जाता और निश्वास छोड़कर अधमता में डूबा हुआ मैं अपने कायरपन को धिक्कारता वापस लौट आता। मेरी नींद गई, मेरी शान्ति,

स्वास्थ्य और सुख गए। उनके स्थान में रह गए एक मुख, एक प्रश्न और एक चीख।

मेरी नींद समूची चली गई और मैं नींद के नाम से डरने लगा। यदि घड़ी-दो-घड़ी नींद आ जाती तो मेरे प्राण निकल जाते, मेरे मन में स्वप्नों की बाढ़ आ जाती। प्रत्येक स्वप्न उस बाला से सम्बन्धित होता। मैं भयंकर और घने जंगल देखता, हजारों बालिकाओं को उनके हजारों पतियों द्वारा मारे जाते देखता। सबकी कर्णभेदी चीखें सुनाई देतीं। इस सब मार तथा इस सब दुःख का कारण मैं—कायर और अधम मैं ही था। समस्त स्वप्न-सृष्टि मुझे दोष देती—हुंकार उठती। मैं काँपते शरीर और विह्वल प्राण लिए जागता पर जागृत अवस्था के विचार भी ऐसे थे जो स्वप्न-परम्परा के दुःख को और भी गहरा करते थे।

एक महीने तक इसी प्रकार मेरी दशा बिगड़ती गई। मेरे सर में बराबर दर्द रहने लगा। एक प्रिय लगनेवाली प्राण-लेवा चीख ही स्पष्ट सुनाई देती। ऐसा लगा जैसे वह अपरिचित अबला मेरे सभी सम्बन्धियों की अपेक्षा मेरे अधिक निकट हो। यदि घड़ी भर के लिए उसका ध्यान भूल जाता तो मेरी वेदना उलटी और बढ़ जाती। मुझे लगता कि मेरा शरीर एक स्थान पर पड़ा है और मेरे प्राण निकलकर कहीं दूर चले गए हैं।

मेरी स्त्री और मेरे मित्रों ने मेरी बदली हुई अवस्था को देखा। मुझे जलवायु-परिवर्तन के लिए कहा गया। मुझे भी उनका कहना उचित जान पड़ा। मैंने बाहर जाने का दिन

निश्चय किया और अपने कुटुम्ब को अगले दिन विदा कर दिया। उस दिन मेरी बेचैनी बढ़ी, मेरे सर का दर्द बढ़ा। मेरा मुँह अधिकाधिक सूखने लगा। अत्यंत दयनीय आँखों-वाला वह मुख मेरी आँखों के सामने से तनिक भी न हटा।

रात हुई तो मुझे घबराहट होने लगी। मैं तीन-चार बार भूलेश्वर तक हो आया। जैसे मैं पहले कभी-कभी साहस करके किसी मित्र के झूठे नाम से चाल में हो आता था वैसे ही आज भी गया। सदैव की भाँति आज भी कोई दिखाई न दिया। अन्त में मुझसे घर में न रहा गया। अधिक हवा की खातिर मैं चौपाटी पर गया। आधी रात होने तक मैं वहीं पड़ा रहा। अन्त में हारा-थका बेहोश सा वापस आया। मेरे मन को केवल उस रमणी की ही रट लग रही थी।

मैं अपने घर के सामने आया। ऊपर जाकर सो जाऊँ या एक बार फिर भूलेश्वर हो आऊँ, यह विचार करते हुए जरा खड़ा हुआ था कि मेरी नजर सीढ़ियों पर पड़ी। सीढ़ियों पर अँधेरे में कोई स्त्री हाथों से सर पकड़े रो रही थी। मैं दिग्भ्रमित-सा खड़ा रहा। मेरे सर में टाकियाँ चलने लगीं। मेरा दिमाग ठिकाने है या नहीं, यह मेरी समझ में न आया। मैं उस बैठी हुई स्त्री को टकटकी लगाकर देखने लगा।

उस स्त्री को देखकर ऐसा लगा जैसे मेरे हृदय की धड़कन बंद हो गई हो। उस स्त्री की रूपरेखा परिचित-सी लगी। मैं आँखें फाड़कर देखता रह गया। धीरे से उस स्त्री ने मुँह से हाथ हटा लिए। मैं एक कदम पीछे हट गया। अपने कपाल पर हाथ रखा। यह कौन? उस दिन आधी रात के समय

मिली बाला का भयंकर रीति से परिचित मुख मैंने देखा। वही मरणासन्न मृगी की-सी भय-विह्वल आँखें, उनमें आभासित वही दयनीय याचक वृत्ति, वही मुख की अपूर्व झलक! यह स्वप्न है या सत्य?

इतने दिन से जो कष्ट मैं भोग रहा था वह अदृष्ट हुआ और सुख की उत्साहप्रद सरसराहट मेरे शरीर और हृदय में होने लगी। मेरे मस्तिष्क में निरन्तर होनेवाली हलचल शान्त हुई और उसके स्थान पर सुमधुर संगीत ध्वनित होता हुआ जान पड़ा।

वह बाला दयनीय दृष्टि से मेरी ओर देखती रही। मुझे लगा कि यदि यह बाला इसी प्रकार और अधिक देर तक देखती रही तो मेरे मस्तिष्क के खिंचे हुए तार तुरन्त टूट जायँगे। लेकिन फिर भी मुझसे कुछ न कहा गया। जैसे उसने पहले पूछा था वैसे ही रुदनमय स्वर में फिर पूछा—"दया है कि नहीं?" वही प्रश्न। मुझे कँपकपी आ रही थी तो भी प्रसन्नता हुई—आखिर मैं उससे मिला तो सही। परन्तु जवाब देने से पहले उसके मोहक नेत्रों की ओर देखने लगा। वह बिना पलक मारे मेरी ओर देख रही थी। मैं जवाब देने-वाला था और कहनेवाला था—"हाँ, आओ! घर तुम्हारा है" लेकिन कोई शब्द न निकल सका। इतना होने पर भी वह मेरी आँखों के आदर को समझ गई। मैं आगे-आगे चला। वह मेरे पीछे-पीछे ऊपर चढ़ी। मैंने अपना घर खोला और उसे आदर से अन्दर बुलाया। एक बार मैं कायर बन चुका था और कायरपन का भयंकर दण्ड भी भोग चुका था तो क्या अब दुबारा फिर कायरपन दिखाता?

मैंने स्नेह और आदर से उसे बुलाया। पिछली बार किए गए घोर पाप का प्रायश्चित्त किया, अपने स्वयं के कायरपन की निन्दा करके क्षमा माँगी। वह बाला चुपचाप दयनीय, अश्रुपूर्ण और निश्चल-नयनों से मुझे देखती भर रही। बहुत होता तो उसके विवर्ण और म्लानमुख पर एक दयनीय मृदु हास्य की रेखा खिंचती और क्षण भर में मिट जाती। इतने दिनों से मन में दबाए हुए कितने ही विचार मैंने प्रकट किए। उसने सब कुछ सुना और उसके बाद मुझसे पूछा—"दया है कि नहीं ?"

"दया ? यह क्या पूछती रहती हो ? तुम जो कहो सो करने को तैयार हूँ लेकिन ऐसी गुमसुम क्यों बैठी रहती हो ? बोलो, कुछ तो बोलो, तुम यहाँ तक कैसे आ पाईं ? मुझे कैसे खोज पाईं ?"

उसने जवाब में कुछ कहा। क्या कहा, यह याद नहीं। मैंने भी और जो कुछ कहा वह याद नहीं। आखिर उसने मौन तोड़ा, खूब बातें कीं। मेरे हर्ष की सीमा न रही। मेरा उठकर नाचने को मन हुआ। हर्ष से या न जाने किस से सारा कमरा चक्कर खाता हुआ दिखाई दिया। मैं उस बाला के लावण्य को अपने हृदय में गहरा खोदकर रखने में लग गया। कितने मिनट, कितने घण्टे गए, इसका पता नहीं। ऐसा लगा जैसे मेरी शिराओं में अग्नि का संचार हो रहा हो। वह बाला अपनी दयनीय हँसी हँसकर देखती रही। मैं जहाँ बैठा था वहाँ से उठा, उसके पास गया, पैरों पड़ा और उसका हाथ अपने हाथ में लेने का प्रयत्न किया।

उसके हाथ बर्फ जैसे ठण्डे थे। उसकी दयनीय, मोहक और प्राणलेवा आँखों में—उसका सर चपटा लगता था या शायद केवल मुझे ही वैसा दिखाई देता था—मृदु हास्य था पर स्थिर था। मैंने उसी का सवाल फिर पूछा—"दया है कि नहीं?" सवाल पूछकर मैंने उसके चरणों में शीश झुकाया। जवाब में उसकी वही भयंकर चीख सुनाई दी जो सतत मेरे कानों में गूँजती रहती थी। मैं काँपा, मैंने ऊपर देखा। मेरी आँखों में धुंध छा गई थी। केवल उसी की आँखें स्थिर थीं और मिथुन राशि के दो तारों के समान चमक रही थीं। मैंने उसका हाथ पकड़ना चाहा। मैं इस बात को कैसे कहूँ कि अपने हाथ में कुछ न आने से मैं कई बार गिर भी पड़ा?

मैं उठा। मेरे पैरों में अद्भुत शक्ति आई। मैंने याचक वृत्ति से पूछा—"दया है कि नहीं?" जवाब में वह बाला न जाने कहाँ गई? जिस कुर्सी पर वह अब तक बैठी थी वह खाली लगी। मैं उठा और दरवाजा खोलकर नीचे गया। इधर-उधर देखा और तेजी से भूलेश्वर की ओर दौड़ा।

उस स्थान पर जहाँ वह पहले मिली थी वहाँ लोगों की भीड़ जमा हो गई थी। "यह क्या है? ये सब क्यों इकट्ठे हुए हैं?" एक पास खड़े हुए व्यक्ति से मैंने पूछा। वह मुझे देखकर चौंका और बड़ी देर तक मेरी ओर ऐसे घूरता रहा जैसे मैं कोई जानवर होऊँ। मैंने फिर वही सवाल पूछा। आखिर वह बोला—"यहाँ एक औरत रात को खिड़की से गिरकर मर गई है।"

मेरी आँखें फट गईं। मैं भीड़ के अन्दर घुसने लगा।

मुझे देखकर बहुत से आदमी हट गए। चाल के भीतर जहाँ आदमी एक दूसरा घेरा बनाए खड़े थे वहाँ मैं पहुँचा। आस-पास किसी का रुदन और वही चीखें सुनाई देती थीं। म आगे आया, घेरे में खड़े हुए लोगों को धक्का देकर हटाया। कितनों ने मुझे पीछे खींचा। घेरे में जमीन पर रक्त के कुण्ड में एक लाश पड़ी थी। हे राम! वही परिचित अंग-विन्यास, वही निश्चल नयन, वही म्लान सुन्दर बदन और पिछली रात को देखा हुआ वही चपटा सर।

मैं क्या देख रहा था। मैं चिल्लाकर पूछना चाहता था पर गले में से ज़रा भी आवाज नहीं निकलती थी। एक भयंकर अग्नि-ज्वाला मेरी आँखों के सामने की आँखों से निकली। उसके बाद क्या हुआ इसका मुझे, पता नहीं। वही मुख, वही प्रश्न, वही चीख मेरे मस्तिष्क में समाए रहे।

जब मुझे कुछ होश आया तो फिर स्थिति ज्यों की त्यों हो गई। मैं चिल्लाकर कहने लगा—"दया है कि नहीं?" कोई उत्तर न मिला। उसके बाद सर्वत्र अन्धकार छा गया।

दुबारा जब होश आया तो मैं अपने घर में था। मेरी स्त्री मेरे माथे पर बर्फ रख रही थी। सामने कुर्सी पर मेरा एक डाक्टर मित्र बैठा था।

"दया है या नहीं?" मैंने बैठे हुए गले से पूछा।

"हाँ, हाँ, पूरी-पूरी दया है, किसी ने जवाब दिया। आवाज अपरिचित थी। बाद में पहचानी तो मेरी स्त्री की निकली।

"कौन निर्मला?"

उसने कहा—"हाँ।"

"तू कब आई? तुझे तो कल बुलाया था।"

"नहीं, मुझे आए तो ग्यारह दिन हो गए।"

"हैं।"

"हाँ! मैं गई उसके दूसरे ही दिन तुम्हारे मित्र ने तार देकर बुला लिया। तुम बहुत बीमार हो गए थे।"

दो महीने में मैं अच्छा हुआ। शरीर में ताकत आई। फिर काम-धंधे में लगा। एक रात का कायरपन और दूसरी रात का आनन्द भुलाये नहीं भूलता। इतने वर्ष बीत जाने पर भी मन में वह सुख, वह प्रश्न और वह चीख ज्यों की त्यों बनी हुई है।

अग्निहोत्री

वह पुराण-काल की प्रतिमा था। आर्यसंस्कृति की भावना का केन्द्रविन्दु-सा लगता था। उसकी भौहों पर योगाभ्यास की झलक थी। भाल पर पिनाक जैसा प्रतापी त्रिपुण्ड शोभित था। उसके नयनों में निर्मलता थी। उसके मुख पर मधुर शान्ति व्याप्त थी। उसके जिह्वाग्र पर श्रुति थी। उसके कण्ठ में शिव का जाप था। उसके श्वास प्रति-श्वास में ॐकार का महामन्त्र गूँजता था।

वह था तो इस युग में पर था अतीत काल का मूर्त रूप। उसका शरीर तो था बीसवीं सदी का पर उसका मन था मनु के काल का।

वह अग्निहोत्री था तो केवल गुजरात के एक गाँव का गरीब ब्राह्मण पर उसके जीवन में भारत की पवित्र भावनाएँ सजीव हो गई थीं। साठ वर्ष तक जप, तप और ध्यान करके वह शुचिता तथा संयम के शिखर पर पहुँच गया था। वह मन, वचन और कर्म से आर्यसंस्कृति के परिपक्व फल के समान आदर्श ब्राह्मण था।

गुजरात के एक कोने में बैठा-बैठा वह सनातनधर्म के पुनरुद्धार के मोहक स्वप्न देखता था। ब्राह्मण के तप पर सृष्टि आधारित है, यह उसका विश्वास था। ब्राह्मण के कर्म से धर्म का उद्धार है, ऐसी उसकी मान्यता थी। वह आर्य-धर्म के पुनर्जीवन की प्रथम झलक देखने के लिए आतुर नयनों से प्रतीक्षा कर रहा था और उसका श्रद्धालु हृदय उसे आश्वासन दे रहा था कि शीघ्र उसके आतुर नेत्र संतोष प्राप्त करेंगे।

वह केवल मन ही मन कल्पना के महल नहीं बनाता था वरन् अपने भगीरथ-प्रयत्न द्वारा उसने गाँव के वातावरण को भी शुद्ध और धार्मिक बना दिया था और बड़े उत्साह से अपने एकमात्र पुत्र को पढ़ा-लिखाकर अपनी भावना की सुगन्ध चारों ओर फैलाने के लिए परदेश—बम्बई भेजा था। लड़के से उसे बड़ी-बड़ी आशायें थीं। ब्राह्मण के शुद्ध संस्कार उसे जन्म से मिले थे। वेद और स्मृति उसके रात-दिन के साथी थे। उसकी दृष्टि में उसमें बुद्धि थी, तीव्र लगन थी और वराह रूप धारण कर पतन के गर्त में पड़ी पृथ्वी के उद्धार करने की शक्ति थी।

बाप ने उसको दिग्विजय करने के लिए भेजा था। पहले उस विजय के आरंभ की दुंदुभि की ध्वनि उसे डाक द्वारा मिलती थी। उससे उसे संतोष होता था और उसका हृदय प्रफुल्लित होता था। उसे ऐसा लगता था जैसे उसकी मनोकामना के पूर्ण होने का समय दिन-दिन निकट आ रहा है।

धर्म का उद्धार और आर्यसंस्कृति की पुनः प्रतिष्ठा,

चतुर्वर्णी समाज और शुद्ध के साथ-साथ तपस्वी ब्राह्मण की श्रेष्ठता, सरल और सदाचारी जनसमाज और त्यागी तथा धर्मपरायण राजा ये वस्तुएँ सिद्धि के किनारे सपाटे से चली आती दिखाई दीं। वह भोला ब्राह्मण भविष्य में मिलने-वाली बधाइयों को प्रेम सहित स्वीकार करने के लिए श्रद्धालु और उत्कंठापूर्ण हृदय लिए खड़ा था।

लेकिन पीछे उस होनहार पुत्र की कुछ भी खबर मिलनी बन्द हो गई। वसंत के प्रभातकालीन व्योम जैसे उसके हृदय में शंका का संचार होने लगता पर "मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा" का सूत्र पढ़कर वह हृदय को आश्वासन देता।

कभी-कभी नई और अपवित्र विदेशी वायु का तीव्र झोंका उस अग्निहोत्री के गाँव में आता परन्तु सनातनधर्म में उसे श्रद्धा थी, भारत के भाग्य में उसे विश्वास था, आर्यों के उत्साह और साहस का उसे भरोसा था। अपने जैसे अनेक ब्राह्मण वीरों के शुभ प्रयत्नों के प्रभाव में उसकी निष्ठा थी। भारत के भाग्य में और उसके भाग्यविधाता भगवान् गोवर्धनधारी के इन वचनों में उसकी अटल और अगाध श्रद्धा थी—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

वर्षों बीत गए पर एक-दो पौत्रों के शुभागमन के शुभ समाचार को छोड़कर बहू-बेटों की कोई और खबर नहीं मिली इसलिए अग्निहोत्रीजी के जीवन में कुछ हलचल मची। वंश-वृद्धि से होनेवाले आनन्द की अपेक्षा अपनी भावना को मूर्त करने

के साधनों को बढ़ता देखकर वह पुराणकालीन आत्मा आनन्दमग्न हो गई और उसने उन साधनों को सबल बनाने के अभिप्राय से दो-चार बार अपने पुत्र को देश आने के लिए लिखा लेकिन उन पत्रों का कोई जवाब नहीं आया। इस पर अग्निहोत्रीजी ने स्वयं ही बम्बई जाने का निश्चय किया और इस निश्चय के फलस्वरूप एक-दिन सबेरे आठ बजे अग्निहोत्रीजी बड़ी मुश्किल से ढूँढ़ी हुई गिरगाँव की एक विशाल इमारत के सामने आकर खड़े हो गए।

बम्बई आते समय रास्ते में अग्निहोत्रीजी को बड़ा परेशान होना पड़ा था। उन्हें भयंकर रहस्यमय और असह्य नई दुनिया में होकर आना पड़ा था। एक डिब्बे में अनेक वर्गों का शंभु-मेला देखा, ब्राह्मण कहलानेवाले व्यक्तियों को स्टेशन के नल से मुँह लगाकर पानी पीते देखा और अपने जैसे शुद्ध और पवित्र ब्राह्मण की ओर लोगों को तिरस्कार-पूर्ण दृष्टि डालते देखा। दुनिया के बारे में जो कुछ उन्होंने सोचा था उससे भी कहीं अधिक, अधम और धर्मभ्रष्ट जान पड़ी। जिस सनातनधर्म के पुनर्जीवन को उन्होंने अपने जीवन का आधार समझा था उसकी पहचानी जानेवाली लाश भी उन महात्मा के हाथ नहीं लगी। आज उन्होंने इन गंदी गलियों, मानव-जंतुओं से भरी हुई चालों और संस्कार-हीन लगनेवाले स्त्री-पुरुषों को देखा और उन्हें सहसा कपकपी आ गई।

उन्होंने पाँच-सात जनों से गोविन्दराम अग्निहोत्री के बारे में पूछा। आखिर पता मिला। किसी ने एक कोठरी दिखाई।

जिस पुत्र को वह स्वयं धर्मधुरंधर मानता था उसका ऐसा निवासस्थान। एक ओर टट्टियों की पाँत थी। दूसरी ओर कोई सामने शीशा टाँगकर खड़ा-खड़ा हजामत बना रहा था।

झिझकते हुए उस हजामत बनानेवाले से पूछा—"गोविन्दराम अग्निहोत्री कहाँ रहता है?"

हजामत करनेवाले ने जरा मुड़कर देखा और उपेक्षा से पूछा—"क्यों क्या बात है?"

"मुझे मिलना है।" उसकी उपेक्षा पर खीझकर कुछ सख्ती से अग्निहोत्री ने कहा।

"उस लड़के से पूछो।" कहकर वह हजामत बनाने लगा।

अग्निहोत्री ने कमरे में बैठे हुए एक छः-सात वर्ष के लड़के की ओर देखा। लड़का जमीन पर बैठा था। उसके सामने एक चाय का प्याला था और उसके हाथ में न रोटी न चपाती वरन् एक गेहूँ की जालीवाली कोई चीज थी। अग्निहोत्री ने हर स्टेशन पर मुसलमानों को इस चीज को बेचते देखा था इसलिए उसने इस चीज को पहचान लिया। लड़का उसे चाय में डुबो-डुबोकर खा रहा था। लड़के के मुँह पर मैल के पर्त जमे थे और उसकी आँखों में कीचड़ थी।

लड़के से कुछ दूर मैले-कुचैले कपड़े पहने एक स्त्री बैठी बाल सँवार रही थी। उसे देखकर अग्निहोत्री को संशय नहीं रहा। आठ वर्ष पहले जिस ब्राह्मण-कन्या का ब्याह बेटे के साथ किया था, वही अब इस सुसंस्कृत रूप में उपस्थित थी। भारी हृदय से उसने उससे पूछा—"गोविन्दराम हैं?"

"कौन हैं?" दूसरे गाँव की बालिका वर्षों पहले देखे

ससुर को कैसे पहचानतीं, "गोविन्दराम बाहर गए हैं। क्या काम है ?"

"मैं उनके गाँव का हूँ, मुझे मिलना है।"

"बैठो, अभी आते हैं।" कहकर वह बेशर्म स्त्री फिर बाल सँवारने लगी।

अग्निहोत्रीजी ने घर में चारों तरफ नजर डाली। एक छोटी-सी कोठरी, उसमें एक-दो टूटी हुई कुर्सियाँ, दो-तीन ट्रंक, पुराने बर्तन, फटे हुए कपड़े और कूड़े के ढेर के सिवाय और कुछ नहीं दिखाई दिया। उसके गाँव की कुम्हारिन का झोंपड़ा भी ऐसा गन्दा और अव्यवस्थित न था।

"दातुन दोगी ?" बुड्ढे ने थोड़ी देर बाद हारकर माँगी।

"खत्म हो गई है, यह नमक है—चाहिए तो।"

अग्निहोत्री ने नमक लिया और दाँत माँजकर कुल्ला करने के लिए पानी माँगा।

"वह रहा नल।" टट्टी के पास के चौक में, जहाँ एक स्त्री जूठे बासन माँज रही थी वहाँ एक नल था, उसे दिखाते हुए गोविन्दराम की पत्नी बोली।

अग्निहोत्री उस तरफ गए। उस स्त्री को जूठे हाथों नल बन्द करते देख चुपचाप पीछे लौट आए। उसी समय वह लड़का हाथ के बिस्कुट के टुकड़े को चबाता हुआ अपनी माँ के बाल खींचने लगा और कहने लगा—"माँ, और चाय दे।"

अग्निहोत्री ने पूछा—"नहाने के लिए भी क्या यही नल है ?"

"यहाँ नल चलता ही नहीं रहता। इस बड़े बर्तन में से

पानी लेकर नहा लेना। नल के पास पड़े हुए एक सार्वजनिक पात्र को बताकर गोविन्द राम की पत्नी ने कहा।

एक क्षण अग्निहोत्री कुछ न बोले। आँखें मीच लीं। उनकी संध्या का समय निकला जा रहा था पर क्या करें? बाहर निकलकर उस बर्तन की ओर देखने लगे।

बर्तन माँजनेवाली स्त्री निश्चिन्तता से बर्तन माँज रही थी। और नल बन्द हो जाने के कारण जूठे हाथों से ही उस बड़े बर्तन में से पानी ले रही थी। एक-दो गन्दे लड़के भी उस पानी को बिगाड़ रहे थे।

अग्निहोत्री की विचार शक्ति ने जवाब दे दिया। वह लौट आए और थोड़ी देर द्वार पर खड़े रहे। यह गोविन्दराम अग्निहोत्री का घर। और ऐसे यहाँ के आचार। यह कैसे देखा जा सकता है और इसमें किस ढंग से रहा जा सकता है। वह यह सोच ही रहे थे कि क्या करूँ कि इतने में ही उनका ध्यान घर की ओर गया। चूल्हे पर दाल उफनने लगी। वह स्त्री उठी। न हाथ धोये न रेशमी धोती पहनी और ऐसी की ऐसी ही चूल्हे पर जाकर दाल उतार आई। यह देखकर अग्निहोत्री के गुस्से का पार न रहा। उन्होंने पगड़ी सर पर रखी और पोटली हाथ में ली। यह दुर्दशा देखकर उनका सर चकराने लगा।

"मैं एक जगह हो आऊँ, अभी आता हूँ" कहकर वह चल दिया।

अग्निहोत्री वहाँ से चला। उसकी तीक्ष्ण आँखों की चमक कम हुई। उसकी कमर का जोर टूटा। उसे होश नहीं

रहा कि वह कहाँ है। उसे ध्यान नहीं आया कि वह इस जगह किस लिए आया है? एक आदमी से रास्ता पूछकर वह समुद्र की ओर जाने लगा।

समुद्र देखकर उसके मन को तनिक सन्तोष हुआ और स्नान-ध्यान करके उसने स्वस्थता प्राप्त की। क्या वह स्त्री तथा लड़का गोविन्दराम के हैं? यह माने बिना छुटकारा न था। घबराकर उसने चारें तरफ देखा। सामने ही कुछ दूर पर शिवजी के मंदिर के गगन चुम्बी शिखर पर फहराती हुई भगवा ध्वजा उसे आमंत्रण दे रही थी। उसके हृदय को कुछ शान्ति मिली। अन्त में भोलानाथ ही ब्राह्मण की सहायता को आए न। धीमे-धीमे वह बाबुलनाथ के मंदिर में गया और शिव की पूजा की। फिर स्वस्थ चित्त से विचार करने लगा। लेकिन कुछ सूझा नहीं। अपने एक मात्र घर के जलकर राख होने पर मनुष्य की जो दशा होती है वही दशा उसकी थी। उसे लगा कि वह स्वयं जलकर राख हो गया है।

शाम को बाबुलनाथ के पास चौपाटीपर उसने आदमियों की भीड़ देखी—भाग्यशालियों के ठाठबाट और रोब-दोब देखे, घोड़ा गाड़ियों और मोटरों के मजे देखे लेकिन उसके हृदय में कोई फेरफार नहीं हुआ। उसे इस सब के तथा अपने बीच वही अन्तर दिखाई दिया जो संसार और श्मशान के बीच-बीच होता है।

शाम को किसी अज्ञात आकर्षण से खिचकर जाने-अनजाने वह फिर गिरगाँव की उसी चाल की ओर चला। चाल के सामने आया पर ऊपर न चढ़ा गया। चाल का रंग-

ढंग, शोर-गुल और सरदर्द करनेवाली गंदगी देखकर आगे बढ़ने की उसकी हिम्मत न हुई। पता नहीं वह यहाँ कितनी देर खड़ा रहा। आखिरकार उसके कान में एक परिचित आवाज पड़ी और उसकी तन्द्रा टूटी। आवाज उसकी पुत्र-बधू की थी। उसके साथ कोई पुरुष था। अग्निहोत्रीजी ने ध्यानपूर्वक देखा और पीछे हटकर अन्धकार का आश्रय लिया। वह पुरुष मैला-कुचैला कोट-पतलून पहने था। एक फटा-पुराना हैट सर पर लगाए था। उसके मुँह में सिगरेट शोभित थी। अग्निहोत्री की आँखों के आगे अँधेरा छा गया। इस गन्दे और संस्कार भ्रष्ट नरवानर को उसने पहचाना। वह था उसकी आशाओं का आधार उसका एकमात्र पुत्र—गोविन्दराम। बिना अधिक सोच विचार किये वह उसके पीछे चला। वे आगे बढ़े।

"चल, आज तुझे ईरानी की दूकान पर ले चलूँ," गोविन्दराम ने अपनी पत्नी से कहा।

"नहीं," स्त्री ने कहा, मुझे तो वहाँ की कोई चीज अच्छी नहीं लगती।

"तू इतने दिन बम्बई में रही पर तुझे अक्ल नहीं आई। चल, चल!" कहकर गोविन्दराम आग्रहपूर्वक उसे ईरानी की दूकान में खींच ले गया।

अग्निहोत्री की आँखों में और ही चमक आई। अँधेरे में भी वे चमकने लगीं। इस दूकान में से दो मियाँ भाई निकले और लड़खड़ाते चले गए। अग्निहोत्री ने लम्बी साँस ली और शिवालय की ओर मुड़ा। उसे लगा कि सृष्टि जलकर राख हो

गई है और वहाँ घूमने वाले केवल चिता में से उठकर आनेवाले शव हैं। मंदिर की भव्यता उसे श्मशान से भी अधिक वीभत्स लगी। उसने मंदिर के प्रवेश द्वार पर जाकर शिव को प्रणाम किया। लेकिन शिव भी कुछ कृत्रिम जान पड़े। आस-पास का बिजली का प्रकाश अन्धकार से भी बुरा लगा। पुजारी ब्राह्मण को देखकर उसके रोंगटे खड़े हो गए। वह एक कोने में हाथ जोड़कर खड़ा हो गया पास ही दो ब्राह्मण बैठे-बैठे बात कर रहे थे।

"भाई, कल सेठ के यहाँ संवत्सरी है। है विचार ?

"हैं। "दूसरे ने कहा," अरे राम।"

"क्यों ?"

"मुझे सूतक हैं।"

"तो कौन जायगा, तेरा बाप ? क्यों बिना बात पच्चीस रुपया खोता है।"

"अच्छी बात है, लेकिन देखो किसी को पता न चले।"

"एक शर्त मंजूर हो तो—"

"क्या ?"

"पन्द्रह तेरे और दस मेरे।"

"भाई, ये तो बहुत ज्यादा हैं।"

"तो तुम्हारी मर्जी।"

"अच्छी बात है।"

"तो कल सवेरे बालकेश्वर—"

"अग्निहोत्री की भौहों में बल पड़ गए। उसकी आँखें पागल आदमी की तरह बिना बात चमकने लगीं। वह ज्यों

का-त्यों खड़ा रहा। अन्त में भैया ने उसे वहाँ से हटाया और वह बाहर धर्मशाला में आकर पड़ रहा। लेकिन नींद नहीं आई। उसे अनेक आवाजें सुनाई देने लगीं। वह उठकर इधर-उधर घूमने लगा।...

अग्निहोत्री के निर्निमेष नेत्रों ने उषा की पहली किरण को मंदिर के शिखर पर पड़ते देखा। उसने आकाश पर चारों तरफ नजर डाली। दूर सागर की मर्यादा की तरफ देखा, पीछे मुड़कर ऊँघते हुए शहर की तरफ देखा और धीमे-धीमे मंदिर की सीढ़ियाँ उतरकर सागर की ओर चल दिया।

उसने स्नान किया, संध्या की, साठ वर्ष से स्वाभाविक रूप से जीभ पर चढ़े श्रुतिवाक्यों का उच्चारण किया, दूर से शिवालय की फहराती हुई ध्वजा को ध्यान से देखा। जिस श्रद्धा और जिस आशा के आधार पर वह जीता था उसका नाम निशान भी उसे वहाँ न दिखाई दिया। जो भावना उसके श्वास और प्राण को पुष्ट करती थी वह नष्ट हो गई। उसने उगते हुए सूर्य को अर्घ्य दिया और चुपचाप उपालम्भ दिया—"भगवान! तेरा तेज भी देख लिया।" उसने शंकर की ध्वजा की ओर तिरस्कारपूर्ण दृष्टि डाली। वह दृष्टि कह रही थी—"पिनाकपाणि! तेरा त्रिशूल भी घिस गया दीखता है। क्यों?"

उसकी आँखों में सहस्र पीढ़ियों का ब्रह्मतेज झलका। उसके तेजस्वी भाल पर साक्षात् सरस्वती विराजीं। उसकी संस्कारी और धर्म-परायण आत्मा शान्त और स्वस्थ हुई। लेकिन उसके कानों में समुद्र की तरंगों की व्यंग पूर्ण हँसी सुनाई पड़

रही थी। रणयज्ञ में हुत हुए योद्धाओं में से बचे हुए शूर-वीर की भाँति गर्व से वह अपने स्वातंत्र्य को सँजोए रहा और समुद्र में घुसता चला गया। उसने सूर्य बिम्ब पर अपने निश्चल नयनों का तेज बरसाया और मुख से बोला........"तत्सवितुर्वरेण्यं।" लहरें उसके मुख तक आ गईं। आगे बढ़ा, आँखों तक पहुँचीं। फिर वह स्थिर नयनों से आगे बढ़ा। आँखें मिच गईं। शिखा अदृश्य हुई। उसके सर पर पानी फिर गया।

उस संस्कारी आत्मा ने अनेक रंग देखे। उसकी आँखों के आगे सूर्य का बिम्ब रमता रहा, उसमें उसने ऊँकार लिखा हुआ देखा। कान में आवाज आई। कोई मजाक में कह रहा था—

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानं धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

उसने 'तत्सवितु' बोलना आरंभ किया परन्तु सूर्य बिम्ब ओझिल हो गया। नाद बन्द हो गया। दसों दिशाओं में अन्धकार छा गया और अग्निहोत्री की आहुति पूरी हुई।

———

प्राइवेट सेक्रेटरी

दी ऑनरेबुल सर मोहनलाल नाइट, हलचर भरी बम्बई में भी कार्य कुशलता में अद्वितीय थे—एक बहुधन्धी और रोब-दोबवाले आदमी थे।

वे एक बहुत बड़ी फर्म के मालिक, छः कम्पनियों के मैनेजिंग एजेंट और छत्तीस कम्पनियों के डायरेक्टर थे। वे और कितनी फर्मों में साझीदार थे, इसका पता बिना सहायक की सहायता के स्वयं उनको भी नहीं लगता था।

इसके साथ ही वे सार्वजनिक जीवन के कीड़े थे। वे वायसराय की काउंसिल आफ स्टेट, नगर पालिका और नगर विकास संघ आदि सरकारी संस्थाओं में विराजमान होते थे और उनकी उपसमितियों में रुचि पूर्वक भाग लेते थे। इसके अतिरिक्त शायद ही कोई ऐसी संस्था हो जो उनके नाम के बिना जन्म लेने की धृष्टता करती हो। प्रेसिडेंसी एसोशियेसन, रेडीकल लीग, संसार सुधार क्लब और उद्योग वर्द्धक मण्डल, देशी व्यापारी चेम्बर और कपड़ा, शेयर, खाँड, गुड़, शाक,

मुरमुरा आदि के बाजार के ऐशोशियेशन, विदेशी व्यापार वर्द्धक मण्डल और चर्खा प्रचारिणी महासभा, मिल मालिकों की लीग और मजदूर वर्गोद्धारक समिति, साम्राज्य सभा और असहयोग प्रवर्तक महा सेना जैसी अनेकानेक संस्थाओं के वे या तो सभापति थे या उप सभापति, मंत्री, उपमंत्री, सहकारी मंत्री, खजानची, सदस्य और सभापति।

सर मोहनलाल इन सब संस्थाओं को सुचारु रूप से चलाने के लिए इतने आदमियों को नौकर रखते थे जितनों से कि गुजरात का एक पूरा गाँव बस सकता था और भिन्न-भिन्न मनुष्यों को हरेक विषय तथा संस्था की प्रवृत्ति की जिम्मेदारी ऐसे ढंग से सौंपते और ऐसी चतुराई से उनसे काम लेते कि उन सबके जीवन, बुद्धि तथा जागरूकता सेठजी की घानी में पिल जाते और उसके परिणामस्वरूप सेठजी की धन तथा कीर्ति की सरिता का पाट दिन ब दिन चौड़ा होता जाता।

कुछ समय से सेठजी को एक भयंकर कठिनाई का सामना करना पड़ रहा था। उनका कीमती वक्त कितनी ही तुच्छ संसारी बातों में खराब होने लगा था और बहुत से आवश्यक कार्य छूटने लगे थे। लोगों के यहाँ से विवाह के निमंत्रण आते और बारात में समय पर पहुँचना न हो पाता। कितने ही जान-पहचान के लोग मर जाते और सेठजी की उपस्थिति के बिना उनकी उठामनी सूनी रह जाती। कितने ही नाते-रिश्तेदारों के ऊपर संकट आता और सेठजी स्वयं जाकर उनके आँसू पोंछने का यश प्राप्त न कर पाते। पैसों

के लिए अनेक भिक्षुक प्रार्थना करते परन्तु सेठजी के पास उनकी कीर्ति के अनुकूल मीठे और आश्वासन भरे पत्र लिखने का समय या हँथोटी नहीं थी। उनकी नई पत्नी डुम्मस में असाध्य रोग से पीड़ित थी और डाक्टर कहते थे कि बहुत दिन तक उसके मानसिक सन्तुलन को बनाए रखने के लिए सेठजी द्वारा उसे भावपूर्ण पत्र लिखे जाने चाहिए पर सेठजी बहुधा यह कार्य न कर पाते और डाक्टरों को सेठजी को दाम्पत्य प्रेम पर भाषण देने पड़ते।

आफिस के किराये के आदमी ऐसे जरूरी कामों को जी-जान से न करते और अपनी कार्यकुशलता में कलंक लगता देखकर सर मोहनलाल को असंतोषाग्नि में जलने में वक्त जाया करना पड़ता। एक दिन इस विडंबना से छूटने का उपाय हाथ लगा। जैसे उनकी अन्य प्रवृत्तियों के अलग-अलग कार्य-वाहक अध्यक्ष नियत थे वैसे ही उन्होंने एक सांसारिक प्रवृत्ति का खाता खोलकर उसे एक घरेलू कार्य-व्यवस्थापक को सौंपने का निश्चय किया। उन्होंने घरेलू कार्य-व्यवस्थापक प्राप्त करने के लिए तुरन्त विज्ञापन दिया। इस समय उसी विज्ञापन के कारण कितने ही उत्साही उम्मेद-वार सेठजी द्वारा रचित स्वयंवर में वरमाला पहनने की आशा से आये थे।

इस समय सेठजी अपने आफिस में एक ऐसी विशाल टेबुल के सामने बैठे थे, जिसे सहज ही तीन आदमियों के सोने के लिए खाट के रूप में काम में लाया जा सकता था। उनके हाथ में चाय का प्याला था। उनकी आँखें डायरी पर

थीं और उनका ध्यान ३-३८ पर होनेवाली नगर-पालिका की बैठक के कार्यक्रम पर था।

डायरी में ३-१५ के सामने लिखे 'घरेलू कार्य-व्यवस्थापक का चुनाव' के शब्दों ने सेठजी का ध्यान खींचा और उन्होंने तुरन्त एक ब्रोंज की गिलहरी की पूँछ दबाकर घण्टी बजाई।

उसके जवाब में एक अर्दली आया।

"अर्दली!" सेठजी ने ऊपर देखे बिना कहा, "दलाल सेठ को बुलाओ।"

अर्दली गया और एक अधेड़ उम्र का वाचाल कर्मचारी आया।

"वे उम्मेदवार आए हैं क्या?"

"जी हाँ।"

"कितने हैं?"

"तेरह।"

"Unlucky number" अच्छा। एक के बाद एक भेजो।

"जी," कहकर दलाल गया और एक पारसी युवक आया। वह लम्बा, सुन्दर और चंचल था। उसके कपड़ों की चमक-दमक देखकर किसी को भी यह भ्रम हो सकता था कि हाइट वे लेडला के विज्ञापन के साइन बोर्ड में चित्रित छैलाओं में से एक सजीव बनकर यहाँ चला आया है। उसके बाल छल्लेदार थे। उसकी नाक पर बिना कमानी का चश्मा था। उसकी पतलून की क्रीज ताजी थी। देखनेवाले को तुरन्त ऐसा भान होता था जैसे दर्जी ही उसका देवता हो।

वह झुका, जरा हँसा और अन्दाज के साथ अपने भाल पर आए बालों को जरा ऊँचा किया।

सेठजी ने ऊपर देखकर पूछा—"नाम?"

"पेसी सुलतान।" कहकर उम्मेदवार पास आया।

सेठजी ने अर्जियों के ढेर में से उसकी अर्जी निकाली।

"उम्र?"

"अट्ठाईस।"

सेठजी ने अर्जी एक तरफ रखी। "अच्छा, देखो यदि तुम्हें लेना हुआ तो कल लिखकर बता दिया जायगा।" कहकर गर्दन हिलाकर उसे छुट्टी दी।

सुलतान इस इन्टरव्यू के लिए तीन दिन से तैयारी कर रहा था। इसके लिए उसने कुछ वाक्य घोखे थे और अभिनय का अभ्यास किया था फिर भी सेठजी ने उसे अपनी मोहिनी अजमाने का तनिक भी अवसर न दिया। इस अप्रत्याशित संकट को आता देखकर सुलतान स्तब्ध होकर खड़ा हो गया। सेठजी ने अस्पष्ट तिरस्कार से ऊपर देखकर कहा—"जाओ।"

निराधार सुलतान मजबूर होकर चला आया।

तुरन्त एक दक्षिणी सज्जन दाखिल हुए। उनकी लाल पगड़ी से लेकर लाल जूतों तक सब पर पेशवाई की अद्भुत छाप थी। ऐसा लगता था जैसे उनकी उम्र कुछ ज्यादा और अनुभव विशाल है। चार-पाँच प्रश्न पूछकर सेठजी ने उनको भी छुट्टी दी। ये सज्जन कुछ काम के निकलेंगे ऐसा सेठजी ने सोचा।

लेकिन दूसरे ही क्षण तीसरे उम्मेदवार को देखते ही

सेठजी का विचार बदल गया। नए आनेवाले का मुख कुछ गंभीर था। उसके कदम धीमे थे। उसके नेत्र निस्तेज थे। उसकी कमर लचकती थी।

सेठजी ने उसे देखा और उनकी स्थिर आँखों में ऐसा हास्य झलका जिसका कि रहस्य नहीं समझा जा सकता था।

"तुम्हारा नाम ?" सेठजी ने गुजराती में पूछा।

"जी, मधुपर्कशंकर शास्त्री।"

"कहाँ के हो ?" विवाह के समय किए गए मधुपर्क के आचमन का स्वाद लेते हुए सेठजी ने पूछा।

"नड़ियाद का।"

शास्त्री के हाल-चाल देखकर सेठजी को कुछ स्फूर्ति मिली।

"तुम पढ़े-लिखे हो ?"

"अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार यदा कदा गुर्जरी देवी के चरणों में 'पुष्पं फलं तोयं' रखता हूँ।" मधुपर्कशंकर ने गांभीर्य के साथ-साथ सगर्व नम्रता से बताया।

सर मोहनलाल के शान्त मुख पर हास्य झलक उठा। अन्त में उसे रोककर सेठजी पूछने लगे—"क्या वेतन लोगे ?"

"बम्बई के जीवन—"

सेठजी ने घड़ी की ओर देखते हुए पूछा—"बाल बच्चे हैं ?"

"हैं," जैसे गवाही दे रहा हो ऐसी आवाज से मधुपर्कशंकर ने कहा, "लेकिन इस समय बम्बई में नहीं हैं।"

"डेढ़ सौ रुपया और हमारे घर रहना तथा खाना-पीना। बोलो स्वीकार है?"

शास्त्री ने आँखें फाड़ीं और जैसी आपकी इच्छा कहकर स्वीकृति दी।

"आज से शुरू करोगे?"

"इस समय मेरे पास कोई काम नहीं।"

"तो बैठो। वह टेबुल तुम्हारी है।" सेठजी ने बिजली की-सी तेजी से नियुक्ति करके हुक्म देना शुरू किया, "इस समय मैं जाता हूँ। सवा पाँच बजे आऊँगा यह पत्र लो। इसे पच्चीस रुपए भिजवाने हैं। एक अच्छा-सा पत्र भी साथ भेजने के लिए लिख डालो। आदमी जरा घमंडी है। उसे ऐसा न लगे कि हम पुण्य कर रहे हैं!"

सेठजी ने एक पत्र देकर दूसरा लिया।

"देखो, यह दूसरा पत्र है। यह मनोरमा का है", घबराहट में शास्त्री की आँखें फट गईं।

"मेरी स्त्री डुम्मस में बीमार है। एक ऐसा पत्र लिख डालो जो उसे अच्छा लगे।"

"अच्छा?"

"हाँ, उसमें क्या है? मैं आकर ठीक कर दूँगा।" कह कर सेठजी ने घंटी बजाई और अर्दली को बुलाया।

"अर्दली! इस बेग को मोटर में रख दे।"

"दलाल!"

दलाल फिर वापस आया।

"सर...."

"देखो, मिस्टर शास्त्री का डेढ़ सौ रुपया वेतन आज से लगाया जायगा। इनका नाम लिखो और यहाँ बैठने का प्रबन्ध करो। बाकी के उम्मेदवारों से तुम बातचीत करके उन्हें चलता करो", कहकर सेठजी चले गये।

२

सेठजी तो चले गये पर मधुपर्कशंकर चित्रलिखा-सा रह गया।

अपनी नियुक्ति—डेढ़ सौ रुपया और खाने-पीने की सुविधा, सेठजी के हुक्म और सेठानी को दिया जानेवाला प्रत्युत्तर—इन अप्रत्याशित प्रसंगों की परम्परा ने शास्त्री की स्वस्थता को हर लिया। दलाल ने हँसकर शास्त्री से कुछ सवाल पूछे पर उनका उचित उत्तर न मिलने से वह शास्त्री को घमंडी समझकर चला गया और शास्त्री हाथ में सेठानी का पत्र लिए खड़ा का खड़ा रह गया।

परन्तु जो मधुपर्कशंकर को भली भाँति नहीं जानता उसकी समझ में इस असमंजस का रहस्य नहीं आ सकता।

मधुपर्कशंकर जाति का ब्राह्मण, नड़ियाद का निवासी और विद्याव्यसनी था। यही नहीं वरन् वह दृढ़तापूर्वक इस बात को मानता था कि सृष्टि का हृदय गुजरात है, उसका केन्द्रविन्दु नड़ियाद है और उस केन्द्रविन्दु का आधार किन्हीं अंशों में वह स्वयं है। उसके हृदय को इस बात का विश्वास था कि विश्वविख्यात गोवर्द्धनरामादि नड़ियादी विद्वानों का कीर्त्तिमुकुट उसके मस्तक पर सुशोभित होने की प्रतीक्षा कर रहा है।

उसके लिए दुनिया केवल नड़ियाद का एक पुरवा थी। दुनिया का साहित्य उसके गाँव के विद्वानों की गर्जना की हलकी सी प्रतिध्वनि था। उसकी मानसिक आँखें सदा मनसुखराम के अस्तोदय से चन्द्रशंकर की पाँच कथाओं की खान के कीमती पेबल के चश्मा चढ़ाये घूमती रहती थीं।

मधुपर्कशंकर की जितनी श्रद्धा अपनी विद्वत्ता और नड़ियादी महत्ता में थी उतनी ही पत्नी-पूजा में भी थी। वह गुजरात की स्त्रियों को संस्कार और सौंदर्य में सृष्टि भर में श्रेष्ठ मानता था और अपनी सहधर्मचारिणी को भूत, वर्तमान और भविष्य की सुन्दरियों में मिलनेवाली अनमोल विशेषताओं का केन्द्र समझता था।

जिस समय उसे सर मोहनलाल ने अपनी पत्नी का पत्र दिया उस समय उसका हृदय धक से रह गया। उसके मन में यह विचार उदय हो आया कि जिस समय उसे उस पत्र का जवाब लिखने का काम सौंपा गया उस समय पापी पृथ्वी रसातल को क्यों न चली गई? क्या दुनिया में ऐसे भी अधम पति मौजूद हैं जो अपनी कोमल हृदया अर्द्धांगिनियों के प्रेमपूरित पत्रों का जवाब किराये के कार्यव्यवस्थापकों से दिलवावें? उसने यह तो सुन रखा था कि बम्बई में अधोगति के गहन गर्त में पड़े अनेक नराधम रहते हैं पर इस धनाढ्य के पत्नीद्रोह के आगे उसे वे सब पुण्यात्मा जान पड़े। कैसी उमंग, कैसे उत्साह और कैसी अनोखी भावना से इस कोमलांगी ने संदेश भिजवाया है और कैसी शांति, कैसी क्रूरता और कैसी भावहीनता से उसका निर्लज्ज पति उसके

संदेश का उत्तर लिखवा रहा है। मधुपर्कशंकर का हृदय भावावेश से भर गया और वह सेठजी की टेबुल को उसी उग्रता से देखने लगा जिस उग्रता से कि दुर्वासा ऋषि लोगों को जलाकर भस्म कर देते थे।

टेबुल पर नजर पड़ते ही उसकी नजर सेठजी की डायरी पर गई। उससे पता चला सेठजी अभी आते होंगे। साथ ही डेढ़ सौ रुपया और खाने-पीने का मेहनताना याद आया और कर्तव्यपरायणता में चूक होने से क्या कलंक लगेगा, इसका ख्याल आया। तुरन्त उसने हाथ का पत्र पढ़ना शुरू किया।

"प्यारे !

आपका पत्र पढ़ा। मेरी तबियत अब अच्छी होती जा रही है। अब कब मिलेंगे ?

आपकी

मनोरमा।"

कितना छोटा परन्तु रसभरा पत्र है। अक्षरों की कैसी बनावट है और लिखने के ढंग में संस्कारिता की कैसी छाया है। नाम में छिपी हुई कैसी सुकुमारता है।

इस बात को हर एक नौकर जानता है कि बम्बई के पाषाणहृदय धनाढ्य लोगों की परवाह नहीं करते परन्तु वे अपनी प्यारी पत्नियों के प्रति भी ऐसा व्यवहार करते हैं, यह सोचकर शास्त्री को चक्कर आ गया।

वह टेबुल पर बैठा। उसने एक कोरा कागज लिया और जवाब लिखने लगा। अनेक सम्बोधन लिखे, काट-छाँट की,

और अनेक बार कागज बदला। दो बार कलम बदली। उसके रसमय मस्तिष्क में विचारों के लच्छे पर लच्छे निकलने लगे। अन्त में उसकी परमार्थ बुद्धि ने उसकी सहायता की। उसे इस बात का कुछ स्पष्ट आभास हुआ कि यह स्थिति और यह नौकरी सर मोहनलाल की रसिकता के उद्धार के लिए ही भगवान् ने उसे प्राप्त कराई है। जिस विद्वन्मण्डली में वह अग्रगण्य स्थान लेनेवाला था उसकी महत्ता के अनुकूल ही उसने इस कार्य को पूरा करने का संकल्प किया और कागज पर कलम चलाई।

"प्रिय मनोरमे!

तेरा समाचार मिला और मेरा मुरझाया हुआ हृदय फिर प्रफुल्लित हो गया। देवी! मैं अहर्निश यही सोचता हूँ कि तू कब पूर्णरूपेण रोगमुक्त होगी। तुझसे मिलने को मैं कितना तड़पता हूँ इसका तुझे पता नहीं है परन्तु कुछ दिन में मैं स्वयं मिलकर इसका प्रमाण दूँगा।

तेरा—

अधीर प्रियतम"

मधुपर्कशंकर ने सौ बार पढ़कर और संशोधन करके यह प्रेमपत्र तैयार किया पर उसके मन में एक शंका बराबर बनी रही और वह यह कि शुष्क सेठ इस पत्र का क्या मूल्यांकन करेगा?

सेठजी आए—एक बवंडर की तरह। पाँच हुक्म दलाल को दिये, पाँच दूसरे को और फिर शास्त्री की ओर उन्मुख हुए—

"शास्त्री !"

"जी !"

"वह डुम्मसवाला पत्र लिखा ?"

"जी तैयार है।"

"अच्छा, उस गुजराती टायप रायटर पर टायप करके भेज दे। मेरे हस्ताक्षर भी टायप करना। शाम को मेरी मोटर आयेगी उसमें अपना सामान ले आकर बालकेश्वर चले आना।"

शास्त्री के मस्तिष्क पर इन शब्दों के अर्थ का प्रकाश पड़ने के पहले ही सेठजी कमरे के बाहर चले गए। जब इस हुक्म का अर्थ समझ में आया और जब यह भान हुआ कि सेठजी ने इस पत्र के पढ़ने तक का कष्ट नहीं किया तो शास्त्री की घृणा की सीमा न रही।

२

मधुपर्कशंकर को एक ऐसा छोटा-सा कमरा रहने को दिया गया, जिसके सामने मित्र के समान समुद्र कुछ न कुछ गाता रहता था और अनुपम चन्द्रिका शान्त जगत् पर अमृत-वर्षा कर उसके संस्कारी हृदय में रस की रेल-पेल करती रहती थी।

मनोरमा बीस वर्ष की और सेठ की दूसरी बार की विवाहिता थी। वह बीमारी के कारण आज कोई एक वर्ष से डुम्मस में रहती थी। बीमारी कुछ रहस्यमयी जान पड़ती थी क्योंकि उसके विषय में नौकर खुले दिल से बातें नहीं करते थे और इस समय सेठजी की पहली पत्नी का लड़का वृन्दावन भी वहीं था। मधुपर्कशंकर ने शाम से आकर इतनी जानकारी

प्राप्त की थी और दीवानखाने में टँगी मनोरमा सेठानी की तसवीर ध्यानमग्न होकर देखी थी।

अपने कमरे के आकर्षक एकान्त और ऐसी सामग्रियों से उत्तेजित होकर मधुपर्कशंकर ने अपनी कल्पना के घोड़े दौड़ाना शुरू किया।

सेठानी सुन्दर और रसिक है, यह निश्चय हुआ। सेठ शुष्क और रसहीन है, यह भी निर्विवाद था। और इन दोनों में परस्पर क्या विरोध है, सेठजी मनोरमा को क्यों दूर रखते हैं, क्यों उसके साथ ऐसी क्रूर और घातक चालें चलते हैं, वह सुन्दरी कैसी है आदि बातों का खयाल आते ही शास्त्री के संस्कारी होठों पर महाकवि कालिदास का गुर्जर महाकवि नानालाल का किया हुआ अनुवाद उतर आया—

"नाजुक, यौवन उगती, अधरे बिम्बशो, नाभि ऊंडी,
दाड़मी दन्तज, चकित मृगी शी दृष्टि, कटि पातली ने
स्तन झोल कई नमी, मलपती चाल नितम्ब भारे
एवी हशे त्यां युवति सृजतां सर्जी विधिए शु पहेली।"

—उत्तर मेघ

(उस घर में मेरी स्त्री मिलेगी जिसके ओठ बिम्बाफल के समान, दाँत अनार के दाने के समान, नाभि गहरी, शरीर दुबला, आँख चकित हरिणी के समान—और कमर पतली है। वह नितम्बों के बोझ से चलने में कुछ अलसाती है और कुचों के बोझ से झुकी सी रहती है। निदान ऐसी है मानो स्त्रियों की सृष्टि में विधाता ने सर्वोत्तम उसी को बनाया है।)

ऐसे विचारों में डूबा हुआ और इस श्लोक को

गुनगुनाता हुआ शास्त्री सो गया और विचित्र-विचित्र स्वप्न देखने लगा।

\+ + + +

क्या होगा, क्या जवाब आयेगा, जवाब पढ़कर सेठ क्या कहेगा, कहीं ऐसा तो न होगा कि नौकरी छोड़ने की नौबत आ जाय, ऐसे संकल्प-विकल्पों में पड़ा मधुपर्कशंकर तीसरे दिन डाक की राह देखने लगा।

आखिरकार डाक आई और सर मोहनलाल ने एक बिना फाड़ा लिफाफा मधुपर्कशंकर की टेबुल पर रख दिया।

"शास्त्री! इसे पढ़कर इसका जवाब लिख देना। देखना, आज जरूर चला जाय।"

शास्त्री को शान्ति मिली और सेठजी के प्रति घृणा तीव्र हुई। "यह मनुष्य है कि राक्षस? क्या प्रभु इसे हृदय देना ही भूल गए हैं?"

जैसे ही सेठजी बाहर गए कि मधुपर्कशंकर ने लिफाफा खोला।

डुम्मस, तारीख—

"प्यारे,

पत्र मिला। कौन ऐसी अभागिन होगी जो आपके पत्र में व्याप्त भावनाओं को प्रेम से स्वीकार न करेगी? इतने अधिक व्यवसाय में फँसे रहने और इतने वर्ष बीत जाने पर भी आपके हृदय में दासी के प्रति इतना प्रेम है, यह देखकर मैं आत्म-विभोर हो गई हूँ। आप कब मुझे दर्शन देकर कृतार्थ करेंगे?

विरहिणी—

मनोरमा"

मधुपर्कशंकर की छोटी-छोटी आँखें विजय के तेज से चमक उठीं। उसकी धारणा सच निकली। मनोरमा रसिक और भावुक थी। वह केवल इस प्रेमविहीन भर्तार के हाथों पड़कर कुम्हलाई जा रही थी और प्रभु ने उस मुरझाती लता को जीवित रखने के लिए ही उसे बादल बनाकर भेजा था।

मधुपर्कशंकर के हृदय को इस समय वही संतोष हुआ जो दुनिया का दुख मिटाने के लिए सूली पर चढ़ते समय ईसा के हृदय को हुआ था। शुद्ध और सात्त्विक हेतु होने पर भी उसने कैसी चाणक्य-नीति से काम लिया था।

उसने गोवर्द्धनराम का स्मरण किया, नानालाल का मानसिक आवाहन किया और कलम लेकर जवाब लिखना शुरू किया—

"प्रिये !

तेरा पत्र मिला। अहा ! कैसा सुन्दर पत्र है। धंधे के झंझट में मैंने कैसे रत्न को बिना परखे छोड़ दिया। कैसे अनोखे सुख की प्राप्ति का तिरस्कार कर दिया। मैं अपने पश्चात्ताप को पत्र में कैसे व्यक्त करूँ ? मुझे तेरे क्षमाशील स्वभाव की ही एकमात्र आशा है। अब केवल कुछ ही दिन की बात है। उसके बाद मैं आऊँगा। न होगा तो हम लोग किसी ऐसे रमणीय स्थान में जाकर रहेंगे जहाँ हम एक साथ तादात्म्य अनुभव करते हुए, प्रेम का आदान-प्रदान कर सकें और सुख-सरिता में बह सकें—

विरह-व्यथित उर की उमंग पूरी कर तिल-तिल ।
शरच्चन्द्रिका में विहरेंगे दोनों हिल-मिल ॥

तेरा,

मोहन"

यह पत्र गया और मधुपर्कशंकर बड़ी कठिनाई से अपने चित्त को ठिकाने रख सका । वह उठते-बैठते और सोते-जागते केवल मनोरमा का ही नाम रटने लगा परन्तु शुद्ध परमार्थ की दृष्टि से ही । तीसरे दिन फिर जवाब आया—

"प्यारे !

पत्र मिला । मैं प्रसन्न हूँ । तेरे पत्र को दो बार पढ़कर इस तृषार्त्त चातकी को स्वाति का स्वाद मिला है । तेरे शब्दों में व्याप्त रस और तेरे भावों की निर्मलता ने मुझे पागल बना दिया है । शुद्ध और सात्त्विक प्रेम की प्यासी इस बाला को तूने आज तक क्यों भटकाया ? खैर जो कुछ हुआ सो हुआ पर अब न भटकाना तेरे हाथ में है ।

रसिया । कब मिलोगे ? पत्र जैसे शुष्क साक्षी के स्थान पर तेरे शब्द कब सुनने को मिलेंगे ?

अधीर—

मनोरमा"

इस पत्र को पढ़कर मधुपर्कशंकर के हृदय में आह्लाद के आवेग की आँधी आई । पाव घण्टे तक वह कुछ निश्चय न कर सका । उसकी विचारशक्ति ने जवाब दे दिया । मात्र आनन्द की सरसराहट होती रही । वह पत्र को ही देखता रहा । मनोरमा का नाम ही रटता रहा ।

इस आँधी का वेग कम हुआ तो अनेक संकल्प-विकल्प पैदा हुए। इस प्रकार के पत्र-व्यवहार का पता सेठजी को लग जाय और नौकरी चली जाय तो ?

फिर यह प्रश्न भी उठा कि क्या परस्त्री के साथ ऐसा व्यवहार उचित माना जायगा ? बड़ी देर तक वह इस प्रश्न में उलझा रहा पर जैसे ही जवाब लिखने का वक्त हुआ कि झट इसका निराकरण होने लगा। इतना तो स्पष्ट था ही कि वह स्वयं निर्विकार था और मात्र एक नीरस जीवन में अमृत-सिंचन की निस्वार्थ भावना से ही इस प्रकार के पत्र-व्यवहार को चालू रखने का अप्रिय कार्य कर रहा था। फिर उसे पत्र-व्यवहार करने का यह कार्य सेठजी ने सौंपा था। इसलिए उसे पूर्णरूपेण तथा सरस ढंग से करने में उसकी तीक्ष्ण बुद्धि को कर्तव्य-परायणता के अतिरिक्त और कोई चीज नहीं दिखाई दी।

ऐसे स्तुत्य विचारों से प्रेरित होकर मधुपर्कशंकर जवाब लिखने बैठा।

डुम्मस और बम्बई के बीच रस और साहित्य की रेल-पेल मचने लगी और मधुपर्कशंकर सातवें आसमान में उड़ने लगा। सवेरे उठते ही मनोरमा के पत्रों का पारायण करता। दोपहर को उनको जेब में रखकर उनकी याद ताजी रखता। रात को फिर पारायण करके उन्हें स्वप्न में दुहराता। शेष समय आगे के पत्र में कौन से भाव लिखने हैं, किस कवि की पंक्तियाँ लिखनी हैं, किन शब्दों से मनोरमा को सम्बोधन करना है आदि का विचार करने में लगाता।

उसे अपनी कर्तव्य-परायणता में अटल श्रद्धा थी और

उस श्रद्धा को सफल होते देखकर उसकी विद्वत्ता का कीड़ा कुलबुलाने लगा। जैसे पत्थर की पाड़ के टूटने पर पानी तेजी से चारों ओर फैल जाता है वैसे ही सेठजी की शुष्कता के जाने पर मनोरमा के हृदय और लेखनी भी चारों दिशाओं को रस में शराबोर करते जान पड़े। एक साधारण गुजरातिन को इतने सुन्दर ढंग तथा संस्कारिता से प्रेम-पत्र लिखते देखकर गुजरात के दीवाने मधुपर्कशंकर की देशप्रेमी आँखों में गर्व झलकने लगा। उसमें भी उसके अंतिम पत्र ने तो हद कर दी।

"मेरे प्यारे मोहन,

अपनी विरहिणी मनोरमा के प्रेम-स्मरण को स्वीकार करना। अब तो मेरा रोम-रोम तेरा नाम रटता है और हृदय किसी विद्वान्-शिरोमणि के शब्दों में कहता है कि—

गोपिका घणी-घणी रुवे छे कुंज कुंज में
रोती भूकी सर्वने तुं कृष्णाचन्द्र क्यां गयो ?
पद्ममाल पानी मां ऊंचा विकासी मुख ने
जोई रहेती व्योम मा रसिक भ्रमर क्यां गयो ?

(गोपियाँ कुंज-कुंज में रोती हुई फिरती हैं। कृष्णाचन्द्र तू सबको रोती छोड़कर कहाँ चला गया ? हे रसिक भ्रमर, पद्ममाल जैसे पानी में मुख ऊपर किए व्योम की ओर देखती रहती है वैसे ही हम तेरी प्रतीक्षा कर रही हैं। तू कहाँ चला गया ?)

यह रटना कब सार्थक होगी ? इन तरंगों की हलचल कब शान्त होगी ? आगामी शनिवार को तुमने आने का वचन

दिया था। क्या आओगे ? अब मुझसे धीरज नहीं रखा जाता। तुम न आए तो मैं आऊँगी।

अधीर—

मनोरमा"

इस पत्र को पढ़ते समय मधुपर्कशंकर के हाथ में जो लिफाफा था उसमें से एक और पत्र निकला—

"मेरे हृदय की कुम्हलाती वाटिका के रसिक माली, तू कब तक मेरा अपरिचित मोहन रहेगा ? प्रभु आगामी शनिवार को ऐसा अवसर प्राप्त करायेंगे जब हम दोनों हृदयों और नयनों के परिचय की सिद्धि प्राप्त करेंगे। मैं रात के बारह बजे पहली मंजिल के अपने कमरे में तेरे नाम की माला जपती मिलूँगी।"

इस पत्र को पढ़ते ही मधुपर्कशंकर का सर भन्नाने लगा। पहले तो उसे ऐसा मानसिक आघात लगा जैसे उसके पैरों के नीचे जहरी नाग कुचल गया हो परन्तु दूसरे ही क्षण जीर्ण झोपड़ी को रत्नजटित महल में परिवर्तित होते देख उसकी स्थिति अलादीन की सी हो गई। ये सब रसभरे पत्र सर मोहनलाल के लिए न थे, उनमें स्पष्ट झलकनेवाली बेचैनी उनसे मिलने के लिए न थी। यह चतुराई भरी पद्ममाल तो सच्चे परागलोभी भ्रमर के लिए ही गूँथी गई थी। यह विश्वास होते ही उसका हृदय थिरकने लगा।

लेकिन मधुपर्कशंकर बड़ा चालाक था और इस बात से बेखबर न था कि उसके तथा मनोरमा के सम्बन्ध ने एक नया और भयंकर स्वरूप धारण कर लिया है। पहला सवाल तो यह

था कि सेठानी से इस प्रकार छिपकर मिलना ठीक है या नहीं। फिर पिछली बार नड़ियाद में कुए से पानी भरती अपनी निर्दोष सहधर्मचारिणी की जो तसवीर उसके हृदय पर अंकित हो गई थी उसके आँखों के सामने आते ही दूसरा प्रश्न पैदा हुआ।

एक ओर रसिक और प्रणयी के बिना रो-रो मरती बम्बई की सुन्दरी और काव्य-मयता, रसिकता और आत्मा का अनूठा आह्लाद और दूसरी ओर पत्नीव्रत, चतुराई और भावी संतति के लिए अनुपयुक्त उदाहरण !

मधुपर्कशंकर ने अपने प्रिय लेखकों का स्मरण किया। उनके कथनों तथा उदाहरणों का स्मरण किया परन्तु कोई भी विद्वान् अथवा उनके द्वारा चित्रित नायक ऐसी विडंबना में फँसा न दिखाई दिया। उसने आँखें मींचीं और तेंतीस करोड़ देवताओं में से जिस किसी को भी उसके जैसे दुनिया के एकमात्र आधारस्वरूप विद्वान् का उचित पथ-प्रदर्शन करने की फुर्सत हो उसे उसने मनाया। उसे ऐसा लगा जैसे भविष्य का समस्त संसार उसके इसी निश्चय की उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहा हो। उसने यह भी सोचा कि महाभिनिष्क्रमण के समय गौतम बुद्ध की भी इतनी गंभीर स्थिति नहीं हुई होगी।

अन्त में परमार्थ बुद्धि की विजय हुई। स्वर्गलोक में देव-दुंदुभि बजने लगी। मधुपर्कशंकर के हृदय को सच्चा मार्ग दिखाई दिया।

मनोरमा मात्र दर्शनाभिलाषी और निष्पाप थी। इसीलिए

उसे किसी रसेश्वर के दर्शन भर करने थे कि जिससे उसके अपने रसिक हृदय की सरिता न सूख जाय। इसमें पाप कहाँ था ?

उसका हृदय भी शुद्ध और सात्त्विक था। वह भी निष्काम था, विना फल की आशा रखे कर्मयोग को आचरित कर रहा था। फिर यदि वह मनोरमा से मिलकर उससे दो बातें कर लेगा तो उसका मन भी शान्त हो जायगा। इसमें सहधर्मचारिणी के प्रति कोई द्रोह नहीं था। वह तो उसी का था और वसी का रहनेवाला था।

इसके विपरीत यदि उसने किसी प्रकार की कायरता के कारण इस पथ को न अपनाया तो न जाने क्या हो जाय ? हो सकता है कि मनोरमा की जाग्रत् रसिकता दब जाय अथवा वह किसी अपात्र की ओर झुक जाय और वह (मधुपर्कशंकर) कर्त्तव्य-परायणता से भ्रष्ट होकर सदा के लिए भावी जीवनचरित्र-लेखकों की निन्दा का पात्र हो जाय और विद्वत्ता को सार्थक करने का अनूठा अवसर खो बैठे।

फिर किसी भी विद्वान् को ऐसा निर्मल और रसमय प्रसंग प्राप्त करने का सौभाग्य नहीं मिला, यह बात उनके प्रकाशित तथा अप्रकाशित जीवनचरित्रों से प्रमाणित है। और यदि विधाता ने ऐसा अवसर उसे ही दिया है तो इसका केवल यही उद्देश्य हो सकता है कि वह उससे लाभ उठाकर विद्वत्ता के अस्पर्श्य-शिखर पर पहुँच सके।

इस विचार से उसका ढीला मन कुछ दृढ़ हुआ। मन में भर्तृहरि का श्लोक स्फुरित हुआ—

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा—

यह विचारधारा सेठजी के आने से टूट गई।

"शास्त्री, परसों शनिवार को तुम्हें मेरे साथ डुम्मस चलना है।"

सेठजी चले गए और हृदय गुनगुनाने लगा—

"प्रेमी ने प्रेमपथी परखा,
आत्मा ने आत्मा को जाना"

परन्तु शीघ्र ही उसने भर्तृहरि की कड़ी पूरी की—

न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः

४

जैसे फरिश्ते के पंखों पर यात्रा कर रहा हो ऐसे मधुपर्कशंकर शनिवार की संध्या को डुम्मस पहुँचा।

उसने बँगले के दरवाजे पर 'युवति सृजता सर्जी विधिए शुं पहेली'[१] को देखने की आशा की थी। परन्तु उसके बदले मिला सेठजी का लड़का वृन्दावन। वह कुछ उद्धत, ऊधमी और असंस्कारी-सा लगा। उसकी बातें और हँसी कुछ अपमानजनक प्रतीत हुईं लेकिन अपने ही में डूबा मधुपर्कशंकर ऐसा न था जो ऐसी तुच्छ बातों की परवाह करता।

मधुपर्कशंकर को नीचे की मंजिल पर जीने के पास एक कमरा दिया गया। पहली मंजिल पर एक ओर मनोरमा का कमरा था और दूसरी ओर नर्स का। सेठजी और वृन्दावन के सोने का प्रबन्ध दूसरी मंजिल पर था।

१—मानों स्त्रियों की सृष्टि में विधाता ने सर्वोत्तम उसी को बनाया हो।

बातचीत के दौरान में उसे यह भी पता चल गया कि मनोरमा तबियत के कुछ खराब होने के कारण अपने कमरे से बाहर नहीं आई है और नर्स रात को किसी काम से सूरत जानेवाली है। मधुपर्कशंकर को परिस्थिति अत्यंत अनुकूल जान पड़ी। मधुपर्कशंकर आनन्द की लहरों में ऊभ-चूभ कर रहा था। और सेठजी और वृन्दावन क्या कहते हैं, इसे भी पूरी तरह नहीं सुनता था। उसके सौभाग्य से वनु इतना बातून था कि दूसरों को बोलने का तनिक भी कष्ट नहीं करना पड़ता था। मन मारकर वह जमीन से उठा। कुछ देर बाद सेठजी मनोरमा के कमरे में गये।

वनु ने मधुपर्कशंकर की विद्वत्ता का रहस्यमय ढंग से वर्णन किया। उसके कुछ शब्दों से तो शास्त्री को पल भर के लिए यह सन्देह भी हुआ कि यह चिलबिल्ला छोकरा कहीं उसके पत्र-व्यवहार को पढ़ तो नहीं गया है लेकिन उसने यह निश्चय करके कि मनोरमा जैसी बुद्धिमती स्त्री ऐसा कदापि न होने देगी, उस बहम को मन से निकाल दिया। अन्त में रहस्यमय ढंग से मजाक करता हुआ वनु भी सोने चला गया।

अभी नौ बजे थे और मधुपर्कशंकर ने चबूतरे पर बैठकर घड़ियाँ गिनना शुरू कर दिया था। ज्यों-ज्यों वक्त पास आता गया त्यों-त्यों हृदय की धड़कन मन्द होती गई और ढूँढ़ने पर भी हिम्मत का मिलना मुश्किल होता गया। जब सेठजी अपने सोने के कमरे में च ले गए और नौकरों ने जीने की बत्ती बुझा दी तब तो उसका हृदय ही बुझता-सा जान पड़ा और उसका मन चुपचाप बिस्तर में सो जाने का हुआ।

लेकिन रसिक हृदय उसे चुपचाप बैठने देनेवाला न था। मनोरमा को देखने और उससे मिलने का अवसर उस जैसी रसिक युवती के साथ वार्तालाप करने का दुर्लभ संयोग, और अपनी योग्यता और रसिकता प्रदर्शित करने के ऐसे विरल प्रसंग को हाथ से जाने देना न केवल कायरता थी वरन् अपनी भावनाओं और भावी संतति के प्रति द्रोह करने के समान था। फिर एक अद्भुत रसिका ने अपनी स्वाभाविक लज्जा छोड़कर उसे ऐसा निमंत्रण दिया था। वह इस समय भारी नयनों और काँपते हृदय से उसकी बाट देख रही होगी, उसके पत्रों को पढ़-पढ़कर पल काट रही होगी। यदि वह नहीं गया तो निश्चय ही वह रो-रोकर सारी रात बिता देगी और एक संस्कारी आत्मा के अनूठे सम्पर्क के अभाव में घुट-घुट के मर जायगी। इन विचारों से उसने अपने नष्टप्राय संकल्प को दृढ़ किया।

हॉल की घड़ी में साढ़े ग्यारह हुए और मधुपर्कशंकर जहाँ बैठा था वहाँ से उठा। कुछ देर उसने 'हेमलेट' की भाँति इस बात पर फिर से विचार किया कि मैं जाऊँ कि न जाऊँ, कुछ देर उसने इसका निराकरण करने में लगाई कि जो कदम वह उठा रहा है वह कहीं उसके स्वार्थ से पूर्ण तो नहीं है, कुछ देर इस शंका का समाधान किया कि इससे सुदूरवासिनी सहधर्मचारिणी के प्रति द्रोह तो न होगा और कुछ देर इसका विचार किया कि ऊपर जाकर किस प्रकार का वार्तालाप करना है।

वह खड़ा हुआ और चबूतरे पर चारों ओर नज़र डाली

पर वहाँ कोई न था। जीने पर नजर डाली, वहाँ भी कोई न था। समय और स्थान दोनों अनुकूल थे। वह धीरे से जीने पर चढ़ने लगा। जीना कैसे चढ़ा, इसका पता नहीं। ऊपर जाकर जीने का कटघरा पकड़कर मनोरमा के सोने के कमरे की तरफ नजर डालकर मधुपर्कशंकर रुक गया।

उसके कदम नहीं डगमगाये। उसके हृदय का दीपक बुझ गया। उसका शरीर पसीना-पसीना हो गया। उसका सर कन्धों पर था या नहीं, इसका स्पष्ट निर्णय न हो सका। भगवान् के गीता का उपदेश देने से पूर्व जो अवस्था अर्जुन की थी वही अवस्था इस समय मधुपर्कशंकर की थी।

जैसे-जैसे उसने अपने चित्त को स्थिर करने की कोशिश की वैसे-वैसे वह चारों तरफ खिसकने लगा। उसे एक ही दिशा दृष्टिगत होने लगी—नीचे उतर जाने की।

लेकिन न तो पैर आगे पड़ते थे न पीछे। माथे से पसीने की धाराएँ बहने लगीं। बड़ी मिहनत से उसने धोती से पसीना पोंछा।

कुछ देर तक मधुपर्कशंकर इसी दशा में खड़ा रहा। चारों ओर शांति थी। इससे कुछ स्वस्थता मिली। उसकी समझ में न आया कि वह ऐसे समय में क्या करे? अन्तर में ऐसी अकुलाहट होने लगी कि उसका मन चीख पड़ने को हुआ।

ऐसे भयानक समय में जैसे मरता हुआ मनुष्य अपने देवता को याद करता है और मरता हुआ योद्धा अपने देश को याद करता है वैसे ही उसने अपने जीवन के प्रकाशरूप

विद्वानों को याद किया। परन्तु दुर्भाग्य से उन सबमें न्यूनता दिखाई दी।

न तो किसी ने जीवन में ऐसे अटपटे भयप्रद स्थान का अनुभव किया था और न किसी ने ऐसे प्रसंग की कल्पना या चित्रण ही किया था। उसने अन्धकार में अपने दयनीय चेहरे से इन सब महात्माओं की हृदय में स्थापित मूर्तियों की मूक वन्दना की—उनको नीरव उपालम्भ दिया। उसने यह सोचकर कि उन्होंने अपने भक्त को ऐसा निरुपाय रखा, उनके प्रति घृणा प्रकट की। क्या उनको एक भी ऐसा मंत्र नहीं मिला जो किसी रस-संकट में पड़े रसिक के उद्धारार्थ काम आ सके? सरस्वतीचन्द्र को कुछ ऐसा शुभ अवसर प्राप्त हुआ था—उसने प्रियतमा और अपने बीच दरवाजा बन्द करके बड़ी देर तक संकल्प-विकल्प किया था लेकिन वह वीर अपने कमरे में अकेला था—वह जीने का कटघरा पकड़कर खुली चाल में नहीं खड़ा था और यह स्वार्थ के वशीभूत होकर हाथ से निकली जानेवाली प्रियतमा को अपनी भावनाओं की झलक दिखाना चाहता था, किसी मुरझाई हुई लता को संजीवन करने के लिए हाथ में रस का फव्वारा लेकर कर्तव्यपरायणता में रत न था।

सहसा दूर से आती एक आवाज ने उसकी शांति भंग की। मधुपर्कशंकर की विचारधारा टूटी और उसका अंग-प्रत्यंग काँपने लगा। लेकिन शीघ्र ही पता चला कि यह केवल इधर-उधर भटकनेवाले गधे का रेंकना था।

परन्तु तुच्छातितुच्छ प्राणी को भी गुरु बनाने की

विनम्रता में मधुपर्कशंकर गुरु दत्तात्रेय से किसी प्रकार कम न था। गधे का रेंकना सुनकर मधुपर्कशंकर के हृदय में कुछ ऐसा भाव पैदा हुआ जैसे यह नाद रस-युद्ध से विमुख होते पार्थ को प्रोत्साहन देने के लिए स्वयं हृषीकेश पांचजन्य द्वारा ही किया हो। इस भाव के पैदा होते ही मानो रसेश्वर भगवान् उसके कान में यह मंत्र फूँकते दिखाई दिए—

"निराशी निर्ममो भूत्वा युद्धस्वविगतज्वरः।"

हिम्मत करके उसने एक डग भरा, किवाड़ों को धक्का दिया और दरवाजे के खुलते ही देहली पर जाकर खड़ा हो गया। ऊपर देखा, नीचे देखा, चारों दिशाओं में देखा, सब शान्त था। वह कमरे में घुसा। एक मन्द-सा दीपक जल रहा था और सुन्दर शय्या पर कोई सो रहा था।

मधुपर्कशंकर को दया आई। बेचारी बाट देखते-देखते सो गई है। वह कितना निर्दय है।

वह आगे बढ़ा। कमरे का वातावरण शान्त था——मात्र खाट पर किसी का श्वासोच्छ्वास सुनाई दे रहा था।

वह खाट के पास आया, खड़ा रहा और चादर को स्पर्श करके जैसे ही "मनोरमे" का संबोधन किया वैसे ही बिस्तर में से एक मनुष्य उछल पड़ा।

वह मनुष्य न था, डाकिनी थी। रोग से काली पड़ी चमड़ी, क्षीण हुए शरीर का भयानक रूप, बाहर निकले दाँत और फटी हुई तथा पागलपन भरी बड़ी-बड़ी आँखें—इस भयंकर लावण्य को धारण करनेवाली मनोरमा ने अपनी सूखी उँगलियों के पंजे से मधुपर्कशंकर को पकड़ लिया।

बैठे हुए कठोर कण्ठ से वह कह रही थी—"मुआ बनिया, सौतेली माँ को जहर देने आया है। आ मुए! तेरे प्राण ले लूँ।"

मधुपर्कशंकर काँपने लगा और उसका शरीर पसीने से तरबतर हो गया। मनोरमा उससे बाघिन की तरह चिपट गई और नाखून मारने लगी। न बोल पाने और न मदद माँग सकने की विचित्र स्थिति में रस-युद्ध के लिए सन्नद्ध रसिक ने जैसे-तैसे युद्ध आरंभ किया। मनोरमा का क्रोध बड़ा भयंकर था। शास्त्री भी बुरी तरह हाथापाई कर रहा था।

पाँच मिनट तक यह युद्ध होता रहा। उसे याद नहीं रहा कि जिस समय यह दैवी युद्ध हो रहा था उस समय स्वर्गीय विद्वानों ने आकाश में खड़े होकर उसके दाक्षिण्य की प्रशंसा की या नहीं। वह इस बात का भी निर्णय नहीं कर सका कि इस महाभारत जैसी घटना को देखकर प्रणयी की सहायतार्थ दौड़नेवाले किसी देवता ने स्वर्ग से कूदने की तैयारी की या नहीं।

अन्त में मनोरमा थककर गिर पड़ी। मधुपर्कशंकर एक ही छलाँग में दरवाजे पर पहुँचा और ऐसा लगा जैसे दूसरी ही छलाँग में उसके हाथ जीने की आखिरी सीढ़ी आ गई हो।

फटे हुए कुर्ते-धोती तथा नखचन्द्र से घायल शरीर से जीतेजी मरे हुए के समान मधुपर्कशंकर जीने के नीचे आ गिरा।

घर में शान्ति थी।

थोड़ी देर बाद दूसरी मंजिल से वृन्दावन की आवाज सुनाई दी—

मघरात पहोर अघोर हता
अन्धकार ना दोर ज ओर हता
तारा नयनों मां मोर-चकोर हता
रस तेज निहाली नमुं हुं नमुं

(उस समय आधी रात के भयंकर प्रहर थे, अन्धकार का कुछ और ही रूप था और तेरे नयनों में मोर और चकोर बस रहे थे। मैं उस समय की तेरी सरसता और कान्ति का अनुभव करके तुझे नमन करता हूँ।)

मनोरमा को कौन सा गुप्त रोग हुआ था और किस हाथ से उसने वे पत्र लिखे थे, इस ज्ञान का प्रकाश मधुपर्क-शंकर के मस्तिष्क में हुआ और वह बिना यह सोचे कि इस पंक्ति का रचयिता कौन सा कवि है, बोला—"भगवति वसुन्धरे देहि मे विवरम्।"

सबेरे सूरत के स्टेशन पर एक थका-माँदा युवक अपने मुँह के खुराचों को छिपाता हुआ बम्बई का टिकिट ले रहा था।

एक स्वप्न

क्षण भर के लिए मैं स्तब्ध रह गया। मुझे ऐसा लगा जैसे मैं सईसाँझ के वातावरण में उड़नेवाले पक्षी की भाँति उड़ता जा रहा होऊँ।

वह मेरे सामने बैठी थी। कमरा ऐसा लगता था जैसे मेरा हो—वह अत्यंत परिचित और प्रिय लग रहा था।

प्रकाश न तो चन्द्रमा का था और संध्या का—कुछ दुरंगा-सा था। सृजन के समय विश्वकर्मा ने कुछ ऐसे ही स्वयंभू तेज में नक्षत्र-समूह का निर्माण किया था। यद्यपि उसमें आह्लाद, मधुरता और मस्ती थी पर चीजें एक सी या स्पष्ट नहीं दिखाई देती थीं।

लेकिन उसके आकर्षक काले केश इस प्रकाश में भी मेरी आँखों के आगे लहरा रहे थे। उसका मुख ऐसा था जैसे उषा के आभास में धुँधला होता हुआ चन्द्रमा। उसके सुकोमल अंगों का विन्यास तो अद्भुत था ही।

उसका वर्णन करने की मुझमें सामर्थ्य नहीं है। क्योंकि उसके लालित्य की मोहकता ने मुझे पराजित कर दिया था।

मैं उसके माधुर्य के प्रसाद से परमानंद का अनुभव कर रहा था। मेरी शिराओं में अभिनव नृत्य चल रहा था। मेरे हृदय में बाढ़ आ रही थी। विना आगा-पीछा सोचे मैं उसे जीवन-संगिनी बनाने की शाश्वत कामना के प्रबल प्रवाह में बहा जा रहा था। उसके हास्य पर ही जीवन की समस्त आशाएँ निर्भर थीं। उसके मधुर वचनामृत का पान करने के लिए ही प्राण टिके हुए थे।

यह सब कैसे हुआ, कब हुआ, क्यों हुआ, यह कुछ समझ में नहीं आया। मेरे पत्नी है कि नहीं, दूसरे सम्बन्धी हैं कि नहीं, यह सोचने की न तो मुझे फुरसत थी और न इच्छा। जैसे कौमुदी में कमल विकसित होता है वैसे ही मैं विकसित हुआ। मेरी जिह्वा पर कोई अज्ञात सरस्वती आकर बैठी। मेरे विचारों का गुत्थियाँ कुछ विचित्र ढंग से सुलझीं। मेरी रसिकता का वैभव बढ़ने लगा। जो प्रभाव मैंने कभी नहीं देखा था वही मैंने अनायास देख लिया।

हम हँसे। अपरिचित होते हुए भी वार्तालाप में रस अनुभव करने लगे। मेरे हृदय में विजय की तीव्र लालसा उत्पन्न हुई। मेरे मन में जहाँगीर और ऐंटनी के सौंदर्य-प्रेम का कोई मूल्य नहीं रहा। वह मेरी कौन थी, यह याद न था। वह कहाँ से आई थी, इसकी खबर न थी....हाँ, मस्तिष्क को इस बात का कुछ-कुछ आभास अवश्य था कि वह किसी कर्मवीर या धर्मवीर की सम्बन्धिनी है। मैं वर्तमान के आनन्द में ही मग्न था, भविष्य की चिन्ता नहीं थी।

मैं प्रसन्नता से फूला न समाता था। जीवन मधुमय हो रहा था। मैं उसके साथ घूमा। एक बार की तो मुझे याद है। पग-पग पर वह देवांगना का आभास देती थी। मैं दिशा और काल से परे-सा लगता था इसलिए देश या काल का कोई निश्चय न रहा। एक निर्जन और लम्बा-चौड़ा रास्ता, एक पल में चारों ओर बड़े-बड़े मकान तो दूसरे ही पल सघन वृक्ष और दुरंगे सूर्य से पहले का प्रकाश........और फिर भी ऐसा भान होता था जैसे यह बम्बई हो।

मुझे कुछ-कुछ ऐसा भी याद पड़ता है कि उस समय मेरे मित्र—यश, बुद्धि और प्रभुत्व की डींग मारनेवाले मित्र—मेरे भाग्य को देखकर ईर्ष्या कर रहे थे। एक ने तो मजाक भी किया। मैंने उसे सुना लेकिन वह क्या था, यह मेरी समझ में न आया। फिर भी उससे मेरे मन को संताप न हुआ।

वह किसी दूर देश से अपने सम्बन्धी से मिलने आई थी। वह उससे मिले विना नहीं रह सकती थी। उसके लिए वह पिता-तुल्य था। उसने मुझसे साथ आने के लिए कहा या स्वयं मैं ही उसके साथ जाने को तैयार हुआ, यह कुछ ठीक से मेरी समझ में नहीं आया। लेकिन मैं उसके साथ गया।........

मेरी मित्र-मंडली थी। यह असंभव घटना कुछ स्वाभाविक रीति से घट गई थी। जिस डाल पर जाकर मेरा पक्षी बैठनेवाला था उस पर जा बैठने का अधिकार—न जाने कैसे—मुझे मिल गया। मेरे पंखों में गरुड़राज का गर्व आ गया था। मैं उस जादू भरे परम आनन्द के व्योम में मस्त होकर विचरा।........

हम एक ऊँची दीवार में बने बन्द द्वार के आगे आकर

खड़े हो गये। दीवार की मुँडेर क्षितिज की भाँति गगन के साथ मिली हुई थी। वह मेरे पास तो थी पर कैसी थी, यह याद नहीं। द्वार के ऊपर का नाम पढ़ा, कुछ दरवाजा खुला। किसने खोला, यह समझ में नहीं आया और हम अन्दर घुसे।

मेरे हृदय की धड़कन बन्द होती-सी लगी क्योंकि उस पर दुख की क्षणिक छाया आकर पड़ गई थी। उसकी आँखों में आतुरता थी और उसकी बातों में उल्लास। वह अपने सम्बन्धी के यहाँ अपनी स्नेह की सृष्टि में जा रही थी। उसके साथ था मैं—एक खानाबदोश अजनबी।

मैं न जाने किसके कहने से और कैसे उस विशाल रंगमंच के समान सुशोभित और भव्य कमरे के आगे पड़े हुए सोफे पर बैठ गया। खिड़की में से सिंदूरी प्रकाश आ रहा था और पृथ्वी पर पड़ते ही हरा हो जाता था....उस स्वर्गीय प्रकाश में मैंने स्वयं अपने को धोती, चप्पल, काला कोट और टोपी पहने तथा उदास चेहरा लिये बैठे देखा।

वह बिना मेरी ओर देखे उछलती-कूदती अन्दर चली गई। जाते समय मैंने उसे अच्छी तरह नहीं देखा। केवल उसके शीश की सुन्दर वेणी हिलती दिखाई दी, फर्श पर उसके श्वेत पुष्प जैसे बूट दिखाई दिये, कमर की मनोहारी लचक की भी कुछ झलक मिली और क्षण भर ही में वह आँखों से ओझल हो गई.......।

फिर मैंने उसे पारदर्शी पर्दे की रंगबिरंगी चमक में से उड़ते और थिरकते देखा, योरोपीय पोशाक की काली और संस्कारी भव्यता में शोभित एक वृद्ध पुरुष से गिरि-शिखर से

लिपटनेवाली बदली की तरह लिपटते देखा। मैंने पर्दे में से दोनों को अन्दर जाते हुए देखा।....

एक सुन्दर अस्पष्ट दिखते कक्ष में बिलियर्ड के टेबिल के सुन्दर किनारे पर उसे उछलकर बैठते देखा....उसके बाद तो केवल बिजली की भाँति हास्य से चमकती दन्तपंक्ति ही स्पष्ट दिखाई दी; शेष सब पर्दे के रंग में मिल गया।

मेरे पैरों के पास दो जने बैठे दिखाई दिये। पहले वे थे नहीं और आते हुए उन्हें देखा नहीं था। एक उनमें दक्षिणी ब्राह्मण था और दूसरा काठियावाड़ी था। दोनों कंगाल-से लगते थे। दोनों के बीच एक खोली हुई पोटली पड़ी हुई थी।

इस पाश्चात्य विलास और वैभव से परिपूर्ण रंगमहल में इन दोनों को बैठा देखकर मेरा दिल बैठ गया। अन्दर नजर डाली तो आँखों के आगे अँधेरा छा गया।

"भाई! यह तुम्हारी माला गिर गई", जैसे काठियावाड़ी ने कहा हो ऐसे मैंने समझा। मैंने चौंककर देखा तो मेरे पैरों के पास रुद्राक्ष की माला पड़ी थी। वह खुली हुई पोटली भी रुद्राक्ष से भरी हुई लगी।

"मेरी?" मैंने पूछा।

"हाँ", और असम्बद्ध वाक्य पूरा किया, "हम रुद्राक्ष बेचते हैं।"

मैं यह माला कब लाया और मुझसे वह कब गिरी, इन प्रश्नों का कोई जवाब नहीं मिला। उत्सुकताभरी दृष्टि से मैंने फिर भीतर देखा। लेकिन अब पर्दे की चमक और उसकी पारदर्शकता जाती रही थी। मुझे निराशा के कारण फुरफुरी-

सी आ गई। मैं मृत्यु के भय से भी अधिक बड़े भय की आशंका से काँप गया।

मैंने माला उठाई और मुझे अपने गंदे कपड़ों का ध्यान आया। मैं बिजली के पंखे के नीचे पुष्पसज्जित टेबिल पर छुरी-काँटे से खाने आया था। आवेश में अकुलाहट के मारे हृदय की गति रुकने लगी।

उन दोनों आदमियों के कपड़े गलीचे जैसे होते गये। वे गलीचे के फूलों में से आँखें मटका रहे थे। हाँ, मेरे पैरों के आगे वह माला अवश्य पड़ी थी।

एक आदमी ने मुझसे ऊपर आने को कहा क्योंकि वहाँ मेरे मित्र मेरी बाट जोह रहे थे। मेरी जान में जान आई। मुझे ऐसा लगा जैसे मेरा निश्चेष्ट होता हुआ शरीर उस सुन्दरी के पुनर्दर्शन की आशा से कुछ चेतना प्राप्त कर रहा है।

वह आदमी मुझे एक टूटे हुए जीने से ऊपर ले गया। वहाँ एक कमरे में मेरे मित्र खाने के लिए बैठे थे। वे मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे लेकिन मेरी दृष्टि अपनी आँखों की पुतली की खोज में थी। वहाँ उसके सम्बन्धी को मैंने एक कोने में सफेद कपड़े पहने बैठे देखा। उसके द्वारा मुझे पता चला कि कुछ स्त्रियाँ भी वहाँ आनेवाली हैं। मुझे चैन मिला।

मुझे कोई अद्भुत प्रेरणा मिली है, ऐसा स्पष्ट दिखाई दिया। न तो मुझसे किसी ने कुछ कहा और न मैंने किसी से कुछ कहा लेकिन फिर भी इस विदेशी पोशाक पहननेवालों की दावत में शामिल होते वक्त मेरा मन जूते उतारकर ज़ाने का हुआ। मैं वहाँ से झट बाहर आया और पास ही

अपने जूते उतारने लगा। एक तो उतार लिया पर दूसरे को उतारने में देर लगी। अन्त में मैं नंगे पैरों भीतर गया।

मैं जल्दी में कमरा भूल गया। बिजली के प्रकाश और पुष्पों की सुगन्ध के बदले बाँसों के छप्पर में से आती हुई सूर्य की किरणें और जमीन पर फैली हुई दाल दिखाई दी। वहाँ जमीन पर पीताम्बर पहने खानेवाले बैठे थे। मैं चौंका, मेरे होश-हवास गुम हुए और यह अनुमान करते ही कि वह सुन्दरी हाथ से गई, मैं धक से रह गया। मैंने चारों ओर देखा तो विप्रवर आनन्द से भोजन कर रहे थे।

मैं वापस लौटा और टेबिल पर खाते हुए अपने मित्रों को खोजने लगा। लेकिन वहाँ—मित्रों के स्थान पर दो-चार जाति-भाइयों को हाथ में कमण्डल लिये परोसने को आते देखा। मैं काँप उठा। जैसे मेरे पीछे पिशाच पड़े हों, ऐसे मैं वहाँ से भागने को हुआ पर भागा न गया। मेरे हृदय का धड़कना बन्द हो गया। मेरा गला रुँध गया और मैं खड़ा रह गया।

निराशा ने मुझे दबा लिया। सृष्टि का अत्यंत भयंकर संहार-काल आया। अगणित शंकरों के ताण्डव से नक्षत्र-समूह की किर्चें उड़ती दिखाई दीं। भविष्य में अनन्त काल तक रहनेवाली रात्रि पृथ्वी पर उतरी। मैं निस्सहायावस्था में निराशा से हाथ मलता रह गया।

न जाने कहाँ से आकर रुद्राक्ष की माला मेरे हाथों पर गिर पड़ी। मेरी जान-सी निकल गई।

मैं भय से काँपता हुआ चौंककर उठ बैठा।

———

मेरी कामचलाऊ धर्मपत्नी

हे बीसवीं सदी के पत्नी-परायण रामचन्द्रो ! यह शीर्षक देखकर चौंकना मत। इसकी चकाचौंध से आँखें न मींच लेना। अपनी धृष्ट कल्पना से इसके भीतर छिपे हुए रहस्य को खोजने का प्रयत्न न करना। मैं भी दृढ़ पत्नीव्रतधारी हूँ और यदि न भी होऊँ तो मेरे घर में रहनेवाली जगदम्बा ऐसी नहीं है जो मुझे इस असिधाराव्रत से हटने का अवसर दे। इसलिए निधड़क आगे बढ़ना।

यह तो सबको याद होगा ही कि संवत् १९०० के वैशाख के महीने में गुजरात में साहलगों की छूत की बीमारी भयंकर रूप में फैली थी और जिससे जितना हो सका उसने उतना लड़का-लड़की ब्याहने का प्रयोग किया था।

उससे दो वर्ष पहले जब मैं रेवेन्यू विभाग के सर्किल इंस्पेक्टर के रूप में घोड़ा कसे गाँव के मुखियों के लड्डू और खीर खाने की सुन्दर नौकरी करता था तब बारकूवा गाँव के दयालजी भाई के साथ मेरा बहुत अच्छा सम्बन्ध था। यह

सम्बन्ध कैसा था और क्यों हुआ था, यह मैं वॉरलोन के प्रताप से हाकिम परगना होने के कारण कह नहीं सकता। केवल इतना कहना ही काफी होगा कि उस मौसम में उसके यहाँ तीन लड़कों का विवाह हुआ और उसने कहा कि यदि तुम चले गये तो मेरा सब काम चौपट हो जायगा। ऐसा था हमारा सम्बन्ध !

उस समय मैं हेडक्लर्क हो गया था और पूने से सरकारी काम करके लौट रहा था इसलिए भत्ता भी अच्छा खासा बननेवाला था। इस कारण जिस फ्लैग स्टेशन—नाम देने की जरूरत नहीं—से बारकूवा जाना होता था उसका थर्ड क्लास का (सरकार मुझे सेकिण्ड क्लास का किराया देती थी तो क्या हुआ ?) टिकट लेकर उस लद्दर गाड़ी में सवार हुआ, जो सवेरे नौ बजे छूटती थी।

इस गाड़ी में कई आराम हैं। एक तो इसमें वह आता है जो निठल्ला होता है और दूसरे वे बड़बड़ानेवाले लोग इसमें पैर नहीं रखते जो हाल में बढ़ी हुई यात्रा की कठिनाइयों से परेशान हैं। इसलिए पैर फैलाने की जगह मिल जाती है। फिर ऊपर के हाकिम इसमें शायद ही कभी बैठते हों इसलिए उनको थर्ड क्लास में क्यों बैठे हो, आज कहाँ जा रहे हो, हेड क्वाटर्स पर क्यों नहीं हो जैसी अनेक बातों की छानबीन करके अपना रोब गालिब करने का मौका नहीं मिलता।

मैं चर्नी रोड से रेलगाड़ी में सवार हुआ। जिस ओर से चढ़ा उस ओर की सीट पर एक बीस वर्ष की कुछ शरमीली, कुछ ठस्सादार और कुछ हँसमुख-सी स्त्री बैठी थी। उसके

पास ही उसका दो-एक वर्ष का तूँबा जैसा लड़का बैठा था। बाकी सीट को घेरे एक लम्बूस जवान अपने पैर उस स्त्री की ओर फैलाकर सोने की तैयारी कर रहा था। यह स्पष्ट प्रतीत होता था कि यह जवान उस स्त्री और बालक का स्वामी है।

ग्रांट रोड से पुराने जमाने की नीली पगड़ी और पान के बटुएवाला एक ठाकुर और उसकी वयोवृद्ध ठकुराइन डिब्बे में चढ़े और मेरी सीट पर ऐसे बैठे कि ठाकुर तो मेरे पास और उनकी श्रीमतीजी सीट के ठीक सिरे पर।

एक तो हम वैसे ही बातून हैं, दूसरे डिस्ट्रिक्ट में घूमने-फिरने से दोस्ती करने में भी यकता हो गये हैं इसलिए ठाकुर को झट से जुंग पर चढ़ाया और लम्बी-चौड़ी बातें करके उसके साथ भाई-बन्दी जोड़ ली।

पालगढ़ आया और मुझे भूख लगी। रात को तो बारकूवा में जाकर भत्ता मारना ही था। इसलिए फलाहार करके पेट की शक्ति बढ़ाने के लिए मैंने सिर्फ आधे दर्जन केले ले लिये। उनमें से भी तीन-चार खाकर बाकी पैरों के पास रख दिये।

इस समय मुझे तिल का ताड़ और राई का पर्वत की कहावतें याद आ रही हैं और मैं तुमसे यह कहे बिना नहीं रह सकता कि यदि मैंने पालगढ़ पर केले न लिये होते या लेकर सबके सब खा गया होता अथवा बाकी बचे केले अपने और उस जवान स्त्री के पैरों के बीच में न रखे होते तो मुझे कामचलाऊ धर्मपत्नी प्राप्त करने या यह कहानी लिखने या तुम्हें पढ़ने का अवसर न मिला होता। लेकिन खैर, जो होना था सो हो गया। मुझे इसका पता नहीं कि वह विलक्षण

लड़का कब सीट से नीचे उतरा। वह धीरे-धीरे पैर घसीटता और किलकारी मारता उन बाकी बचे केलों की तरफ जाने लगा।

मैं था शिक्षित, बी० ए० की डिग्री धारण करनेवाला और एक बार कालिज की सोशल गेदरिंग में बर्क के नारी-सम्मान के ह्रास पर लिखे लेख का पारायण करना भी स्वीकार कर चुका था इसलिए मेरे अन्तर में जो नारीसम्मान के बीज थे वे झट से फटे और अंकुरित होकर बाहर आने लगे। मैं नीचे झुका, एक केला तोड़ा, झटपट उसे छीला, तोड़कर उस लड़के को दिया और आनन्दपूर्वक हँसते हुए उसे देखने लगा।

लड़के की माँ ने जरा नीचे देखा, वह घूँघट से तनिक हँसी—"रहने दीजिए न झबला बिगाड़ लेगा।"

मैंने भी जरा हँसते हुए कहा—"कोई बात नहीं।"

अनजाने गजब हो गया। मेरा पड़ोसी ठाकुर शरलक होम्स बन गया। उसने अपने घुटे हुए दिमाग से सोचा और अनुमान लगाया कि मैं बाप हूँ, वह स्त्री माँ है और यह लड़का हमारा है।

पालगढ़ निकलते ही ठाकुर ने बटुआ निकालकर पान के बीड़े तैयार किये एक, दो, तीन, चार। बातें करते और हँसते हुए बुड्ढे ने एक बीड़ा अपनी पत्नी को दिया, दूसरा अपने मुँह में रखा, तीसरा, मुझे दिया और हाथ के इशारे से मुझसे कहा कि मैं चौथा उस स्त्री को दूँ।

मेरा दिल काँप गया। मैं ब्याहा-ठ्याहा जवान और हेडक्लर्क का रुतबा भोगनेवाला। वह जवान अपरिचित लड़की—न जान-पहचान न दुआ-सलाम और उचककर उसे पान का बीड़ा दूँ। मेरा तो सर चकराने लगा। मैंने भी

हाथ से इशारा करके ठाकुर को बताया कि यह पान देने का गौरव आप ही प्राप्त करें। हमने बड़ी देर तक हाथों के इशारे से पान देने के विषय में व्यर्थ वाद-विवाद किया पर ठाकुर कब टस से मस होनेवाले थे। "भले आदमी ! ऐसा करते क्या मैं अच्छा लगूँगा ; वह शरमा गई तो बस हो गया।" लेकिन अरे मूर्ख, मैंने मन में कहा। यह मेरे जैसे भले आदमी के लिए सौभाग्य की बात हो सकती है पर यदि वह सोता हुआ जवाँ-मर्द जाग जाय और मुझे अपनी स्त्री को पान देते देख ले तो ? मेरी हड्डियों का चूरा हो जाय और मेरी इज्जत धूल में मिल जाय, क्या इसकी जिम्मेदारी कोई ले सकता है ?

लेकिन मेरी नजर उस स्त्री पर पड़ी। उसने भी यह तमाशा देखा और ठाकुर की गलतफहमी समझी। न तो उससे ऊपर देखा गया और न अपनी हँसी रोकी गई। खिड़की से मुँह बाहर निकालकर वह बड़ी कठिनाई से हँसी रोकने का प्रयत्न करती रही। और मैं तो यह सोच ही न सका कि हँसूँ या रोऊँ ?

"अरे, तुम बड़े अजीब आदमी हो।" ठाकुर बोले। और हाँ ! मैं कहने की सोच ही रहा था लेकिन मुझे उसकी जीभ का डर लगा और मैंने एक आँख उस सोते हुए जवान पर और एक उस स्त्री पर रखकर पान का बीड़ा लेकर घबराते-घबराते उस स्त्री के पास रख दिया।

उस स्त्री को भी मजाक सूझा। धीरे से घूँघट में से हाथ निकालकर उसने बीड़ा लिया, मुँह में रखा और इस गड़बड़घोटाले के कारण आनेवाली हँसी को रोकने के लिए पान चबाने लगी। लेकिन हँसी रुके तो कैसे ? थोड़ी देर हो

और हमारी नजरें मिल जायँ; नजरें मिलें और मन में कुछ हो और लाख करने पर भी हँसी छूट जाय।

यों घंटे-दो घंटे बीते और मेरे उतरने का स्टेशन आ गया। ठाकुर भी वहीं उतरनेवाले थे। वह पहलवान भी कुछ देर हुए नींद से जागे थे और उसी स्टेशन पर उतरने की तैयारी कर रहे थे। वह स्त्री भी साथ ही उतरने की तैयारी करने लगी। पिछले दो घंटे की घबराहट और हँसी रोकने के सहयोग से मुझे कुछ ऐसा आनन्द आया कि मेरी समझ में यह नहीं आया कि स्टेशन इतनी जल्दी कैसे आ गया?

लेकिन किया क्या जाय? जैसे ही गाड़ी खड़ी हुई कि ठाकुर उतरे और मैं भी उनके बाद फुर्ती से उतरा। लिवाने आनेवाले के यह जानने के पहले ही कि मैं किस क्लास में से उतरा हूँ, गाड़ी में से उतरकर सेकिण्ड क्लास के आगे जाकर खड़े हो जाने का मेरा नियम था। इसलिए ज्यादा देर करना मेरे बस की बात न थी। फिर भी चलते-चलते मैंने पीछे नजर डाली और उसे देख लिया। उतरते-उतरते उस लम्बे सज्जन को नींद से घिरी आवाज से बोलते हुए मैंने सुना—"देख, उस कोठरी के आगे खड़ी हो जा। छुगनियाँ की धोती रह गई है, उसे दे आऊँ।"

इस छोटे-से स्टेशन पर भी गर्दी और भीड़भाड़ काफी थी। गाड़ी से उतरनेवाले दो थे तो उन्हें लिवाने आनेवाले चार। मैं तो खटाक से सेकिण्ड क्लास के आगे जाकर खड़ा हो गया। मेरे मित्र का भतीजा हाँफता-हाँफता आया और बोला—"ओहो! बाबूजी! बाबूजी!"

"क्यों मकनजी सब खैरियत है न ?" मैंने जवाब दिया और उसे अपना बेग पकड़ा दिया। मेरी नजर उस लम्बूस की तरफ थी। वह हाथ में धोती लिये इंजिन की ओर दौड़ा। उसने दो-चार आवाजें दीं। आखिरकार उसे छगनियाँ मिला और वह उसके साथ बात करने के लिए डिब्बे में चढ़ गया।

उसकी बात पूरी नहीं हुई और इंजिन ने सीटी दी। गार्ड ने आकर धड़ से उस डिब्बे का दरवाजा बन्द कर दिया— "अन्दर बैठ! लम्बे, घरवाली से पूछ आया है ? मर जायगा।" पारसी गार्ड ने चेतावनी दी। गाड़ी चल दी और वे महाशय गाड़ी में बैठे-बैठे ही आगे बढ़े।

उस स्त्री और बालक का क्या होगा ? उसे कोई लेने आया होगा या नहीं ? उस लम्बूस को वह कहाँ ढूँढ़ेगी ? ऐसे अनेक पारमार्थिक विचार मेरे मन में आये पर मकनजी ने मुझसे कहा—"बाबूजी! उस बहली[१] के पास पहुँचिए। मैं दूसरे महमानों को ले आऊँ।"

मैंने रोब से कहा—"ले आओ।"

मकनजी ने चलते-चलते कहा—"बाबूजी! इसमें बैठिए। मैं सबकी व्यवस्था करके आता हूँ।" कहकर मकनजी वहाँ से दूसरे महमान की ओर मुड़ा।

इस गाड़ी से दयालजी भाई के यहाँ इतने स्त्री-पुरुष आये लगते थे कि जिनसे दस बहलियाँ भर सकती थीं। ठूँस-ठाँस और खींच-खाँच करके बहलियाँ भरी गईं। सबके बीच मकनजी

१—दो बैलों की छोटी गाड़ी, जिसे गुजरात में डमणी कहते हैं।

चक्कर लगाता घूम रहा था। फिर अपने साथ डिब्बे में बैठे ठाकुर को भी मैंने कुछ व्यवस्था करते देखा।

अन्त में दूर से मकनजी ने पुकारकर कहा—"बाबूजी! ये मास्टर और सेठजी हमारे साथ आवेंगे। आप चलें।"

एक अहमदाबादी बनिया और सूरती पगड़ीवाला मास्टर मेरी ओर मुड़े। हम तीनों एक बहली में बैठे। मैं इसी सोच में पड़ रहा कि उस स्त्री का क्या हुआ होगा और हमारी बहली सपाटे से आगे बढ़ी।

कुछ देर बाद दूसरी बहली हमारी बहली के आगे निकली। उसमें वह ठाकुर और ठकुराइन बैठे थे। दौड़ती बहली में से ठाकुर ने मुझसे कहा—"राम-राम भाई साहब! सबको ठीक से बिठा दिया है।" कुछ इस प्रकार के उसके शब्द सुनाई दिये। मैं उस समय यह नहीं समझ सका कि उसे मुझे इस बात की रिपोर्ट देने की क्यों जरूरत पड़ी कि सब बैठे हैं या नहीं?

हम हिलती-डुलती बहली में धूल खाते-खाते पाँच मील का रास्ता तय करके बारकूवा आये। अपने मित्र के यहाँ क्या देना चाहिए; मेरे हाकिम परगना ने उस समय मेरे ऊपर आँखें क्यों निकाली थीं, मैं कितने वर्ष में हाकिम परगना हो जाऊँगा, आदि अनेक विचारों में डूबकर मैंने उस स्त्री के हँसते-शरमाते मुँह को अपनी नजर के सामने से हटाने की कोशिश की पर सब बेकार गई।

जब हम अपने मित्र के यहाँ पहुँचे तब उसने बड़े प्रेम से हमारा स्वागत किया। ऐसा लगा जैसे मैं उसके एक मह-

मानों का शिरोमणि होऊँ। विवाह की धूम-धाम में भी उसने मेरे लिए चाय-पानी तैयार करा रखा था। तीन-चार दूसरे व्यक्तियों के यहाँ भी उसने रात के चाय-पानी और महफिल के निमंत्रण मेरे लिए सँजो रखे थे और अपने घर के सामने-वाले घर की अटारी मेरे ठहरने के लिए अलग से ठीक करा रखी थी। इस सम्मान से मैं प्रसन्न हो गया और मैंने दृढ़ संकल्प किया कि यदि मैं इस हलके का हाकिम परगना हो गया तो अपने मित्र को अवश्य ही इसका बदला चुका दूँगा।

दयालजी भाई, मेरे साथ ही सामने की अटारी में आये। मैंने वहाँ अपना बेग रखा। उसमें से अलपका का नया कोट, नई धोती, नया खेस और नया फेंटा—कारण यह था कि मैं भी नये जमाने की चाल के मुताबिक पगड़ी की जगह फेंटा बाँधता था—निकालकर मैं विवाहोत्सव की शोभा बढ़ाने के लिए तैयार हो गया। मेरे मित्र ने धीमे से पूछा—"बाबूजी! हुक्म मिल गया या नहीं?"

"किसका?" मैंने आश्चर्य से पूछा।

"क्यों, आप तो हमारे कलक्टर के पेशकार होनेवाले हैं न?" उसने बड़ी मधुरता से यह सवाल पूछा।

धत्तेरे की! अब इस असाधारण मान-सम्मान का कारण समझ में आया। इस पद पर मेरी नियुक्ति थोड़े समय में तो होनेवाली थी ही नहीं फिर भी अपने मित्र की आशा के महल को धराशायी करना, उस आशा पर आधारित धूम-धाम को व्यर्थ कर डालना और पेशकार की महत्ता छोड़कर केवल

हेडक्लर्क ही समझा जाना मुझे अच्छा नहीं लगा। मैंने भ्रम को बनाये रखने के लिए कहा—"इसी से मैं पूना गया था लेकिन देखो किसी से कहना मत।"

"अरे! क्या कहते हैं साहब?" कहकर दयालजी मुझे अपने घर चाय के लिए ले गया।

तीन जगह चाय, एक जगह मजलिस, दो व्यक्तियों की बारात, अपने मित्र की पंगत—इन सब निमंत्रणों को भुगताने में रात के ग्यारह बज गये और सबसे पीछे की दूसरी मजलिस में से जब मैं और मकनजी लौटे तब मेरे मित्र के घर के अधिकांश लोग सो चुके थे और केवल मेरे लिए सुरक्षित सामने की अटारी का दीया ही जल रहा था। मकनजी मुझे वहाँ ले गया।

"बाबूजी! नीचे यह बाड़ा है और हो सकता है कि वह दूध दुहने आये, इसलिए आप ऊपर जायँ। मैं ये जीने की किवाड़ें बन्द किये देता हूँ। आपको सबेरे कोई जगावेगा नहीं।" मकनजी ने कहा।

"अच्छा!" कहकर मैं जीने पर चढ़ा और उसके पास की खिड़की से थूकने गया। मकनजी ने तुरन्त जीने की किवाड़ें बन्द कीं और नीचे का दरवाजा बन्द करने चला गया। मैं सोने के लिए चला और मेरी आँखें अँधेरे में भटकने लगीं। यह भी समझ में न आया कि मैं जाग रहा हूँ या सो रहा हूँ। अटारी में पड़े एकमात्र चौड़े गद्दे पर अपने लड़के को थपकी देकर सुलाती वह युवती बैठी थी।

"हैं! मेरा मुँह फटा का फटा रह गया। मेरी आवाज

सुनकर वह स्त्री चौंककर खड़ी हो गई। "हाय! हाय! आप कहाँ से?" उसने कहा।

हम घबराहट में एक दूसरे की ओर देखते रहे। एक छोटी अटारी, अँधेरी रात, मन्द-मन्द जलता अंडी के तेल का दीपक, जीने की किवाड़ें बन्द और अबोध बालक को छोड़-कर हम दोनों अकेले!

"तुम यहाँ कैसे?" थोड़ी देर के बाद मुझमें यह पूछने की शक्ति आई।

"क्यों! हम यहाँ विवाह में आये हैं।"

"तुम लोग भी क्या बारकूवे ही आनेवाले थे?" और कुछ कहने को न सूझने पर मैंने पूछा।

"न, न यह तो बावड़ी है।" औरतों को जैसे हर बात में विश्वास होता है वैसे ही उसे भी था।

"नहीं, यह तो बारकूवा के दयालजी भाई का घर है।"

"हाय! हाय! तो यहाँ क्यों ले आये?"

"लेकिन तुम्हारे पति तो रेलगाड़ी में ही रह गये। मैंने कहा।"

"हैं!" उसने घबराकर पूछा।

"हाँ—वह तुम्हारे छगनियाँ को धोती देने गये थे कि गाड़ी छूट गई। मैंने जाते हुए देखा था।"

"अरे, क्या कहते हो? मुझसे तो उस ठाकुर ने कहा था कि मुन्ना के बाप आगे की बहली में बैठे हैं और किसी मकनजी भाई ने मुझे बहली में बिठा दिया।" उस स्त्री ने विवर्ण मुख से कहा।

मेरी समझ में सब बात आ गई। धत्तेरे ठाकुर की। मैं सर को हाथ से पकड़कर बैठ गया। इस विडम्बना में भी मुझसे बिना हँसे न रहा गया। "हे भगवान्।"

"लेकिन यह क्या? मेरी भी तो कुछ समझ में आये?"

"अरे, उस बुड्ढे ने गजब ढा दिया। अब मेरी समझ में यह आया कि उसके सबको बिठाने की बात कहने का क्या मतलब था। उस समय मेरे मन में क्या बात आई, यह कोई नहीं जान सकता।"

तो इसका मतलब है कि मुझे आप............कहकर शर्म के मारे फीके मुँह से भी रसमयी हँसी हँसते हुए वह नीचे देखने लगी। "हाय रे! कैसी गलतफहमी हुई।"

"हाँ, गलतफहमी तो है ही। देखा नहीं कि उसने पान दिलाया था।"

"हाय! हाय! लेकिन उनका क्या होगा?"

"अरे! वे तो दूसरी गाड़ी से वापस लौटेंगे।"

"लेकिन हमारा क्या होगा?"

"मुझे जो चाय-पानी और पान-फूल मिले वह सब तुम्हारे कारण ही—इस गलतफहमी के कारण ही।"

"अच्छा।"

हम दोनों चुप रहे। अपनी स्वाभाविक कमजोरी के कारण स्त्री प्रस्तुत विषय पर नहीं आ सकती।

मैंने फिर बात चलाई। "लेकिन अब क्या होगा?" कहकर चुपचाप केवल नजर से ही अटारी दिखाई।

उस स्त्री का दिल बैठने लगा। "हाय! हाय! अब

क्या होगा ?" घबराते हुए भी वह हँसने लगी। मुझसे भी न रहा गया और मैं एकदम हँस पड़ा। उसके बाद मैं यह देखने के लिए कि इस आफत से कैसे छुटकारा मिले, खिड़की पर गया।

"भाई ! किसी से कहना........" वह कह रही थी।

"सब सो गये हैं।" मैंने निराशा से पीछे फिरकर कहा। "लेकिन अब कहूँ भी किससे ? कहीं ऐसा न हो कि इज्जत धूल में मिल जाय ?" मैं परेशान होकर जमीन पर बैठ गया।

"ठीक है ! अब किसी से कहने से फायदा भी क्या ? फिर मुन्ना के बाप को पता चल गया तो प्राण ले लेंगे।"

"और इन सब लोगों को पता चल गया तो मेरे फजीते हो जायँगे। मैं तो प्रतिष्ठित व्यक्ति हूँ।" चिन्तित होकर मैंने अपनी परेशानी बताई।

"तो फिर जैसे हो वैसे रात काट लें।" उस स्त्री ने कहा।

"मैं नीचे सोने जाऊँ ?" उसने पूछा।

"नीचे तो बाड़ा है। फिर यदि जीने की किवाड़ें खोलीं तो सारा मुहल्ला जाग जायगा।" मैंने कठिनाई बताई।

"और उस पर विवाह का घर है।" उसने समर्थन किया। मैं चुप रहा।

"लेकिन सबेरे क्या कहूँगी ?" उसने नई कठिनाई खोज निकाली और चाहे कुछ भी हो। तुम्हें धर्मशाला पहुँचा दूँगा।

"हाँ, यह ठीक है।" लेकिन इस कठिनाई के दूर होने

पर उसने चारों तरफ देखा। अटारी की साधारण-सी लम्बाई-चौड़ाई नजर से नापी, दीये के मन्द प्रकाश का मूल्य आँका और मेरी ओर देखने लगी। उस बीच मैंने भी वही किया और मैं भी उसकी ओर देखने लगा। मेरे ओठों पर मुसकान आई। वह जरा हँसी और नीचे देखने लगी। मने जरा तिरछी नजर से देखा और हम दोनों ने न रोके जानेवाली हँसी के विशाल 'खो-खो' से सारी अटारी गुँजा डाली।

मैंने देखा कि हमारी हँसी की आवाज सुनकर किसी ने सामने के घर की अधखुली खिड़की पौन के करीब खोली और हमारे दाम्पत्य-विलास को देखने लगा।

मैंने जीभ निकाली—निकाली क्या निकल गई। वह बोली—"मुआ।"

मैं धीरे से उठा और खिड़की बन्द कर आया। हम कहाँ और कैसे सोवें यह प्रश्न तो बिना हल हुए ही रह गया।

मैं फिर आ बैठा। हमारी नजर एक बार फिर कमरे में फिरी, दीये को देख आई और फिर एक साथ मिलकर सोने-वाले गद्दे पर पड़ी।

महमानों की भीड़ के कारण दयालजी हमको केवल एक ही लम्बा-चौड़ा गद्दा दे सका था। पूरे खण्ड में न तो कोई तकिया था और न जाजम।

हम दोनों के दिमाग में एक ही साथ यह प्रश्न उठा कि एक साथ कैसे सोएँ। फिर एक साथ दोनों की समझ में यह बात भी आई कि दोनों के मन में यही एक साथ सोने का प्रश्न उठा है। और हम दोनों नीचा मुँह करके हँसने लगे।

"मकनजी को जगाकर दूसरा गद्दा माँगूँ तो ?"

"बात तो ठीक है लेकिन बहुत से आदमी जाग जायँगे," उसने कठिनाई बताई।

"और यदि उसके पास फालतू न हुए तो ?" मैंने कहा।

"हाय ! हाय !" कहकर उसने अत्यंत आकर्षक ढंग से परेशानी में अपने हाथ मले।

"चूँकि हँसने के सिवाय और कोई उपाय न था इसलिए हमसे हँसे बिना न रहा गया।"

"किसी को पता चल गया तो ?" उस स्त्री ने फिर सवाल किया।

"मैं भी यही सोच रहा हूँ।" मैंने कहा और हम फिर हँसे।

कुछ देर बाद मुझे एक युक्ति सूझी।

"एक काम करें तो ?"

"क्या ?" उसने पूछा।

"इस गद्दे के एक ओर तुम सर रखो और दूसरी ओर मैं। सर के नीचे कुछ रखने को मिलने से मुझे तो नींद आ जायगी।"

"ठीक है। मुझे भी ऐसे नींद आ जायगी।" उसने कहा।

"यह मुन्ना बीच में सो ही रहा है।" जैसे वह बीच की दीवार हो, ऐसे मैंने कहा और कपड़े—कोट, जाकिट और पगड़ी—उतारे।

"मैं तो चाय—पीते-पीते परेशान हो गया हूँ।" मैंने कहा।

"अरे ! 'नहीं माताजी, लीजिए लीजिए, नहीं माताजी, लीजिए' करके चाय पिलाते-पिलाते उन्होंने मेरे भी प्राण ले लिये हैं।" उसने कहा।

हम गद्दे के आधे-आधे हिस्से पर सर रखकर सोने का प्रयत्न करने लगे।

लेकिन हमारे इस प्रयत्न के सफल होने के पहले ही वह लड़का 'बें बें' करता हुआ उठ बैठा इसलिए 'ओ माँ' करती उसकी माँ भी उठ बैठी और सोने का प्रयत्न करना छोड़कर "क्या है ?" कहता मैं भी उठ बैठा।

उस स्त्री ने तो उस लड़के को बहलाने का बड़ा प्रयत्न किया पर वह लड़का माना ही नहीं।

आखिर मुझसे न रहा गया—"लेकिन इसे चाहिए क्या ?" जवाब में उसका सुन्दर मुख लज्जा से लाल हो गया और वह हँसने लगी।

"लेकिन कहो न ?" मैंने यह सोचकर कि इसमें कोई भेद होगा, उससे पूछा। "इसके बाप रोज इसे थपथपाकर सुलाते हैं इसी से यह रोता है।" उसने धीरे से नीचे देखते हुए कहा।

"ओत्तेरे की ! अच्छा तो लाओ मैं थपथपा दूँ—देखें सोता है कि नहीं ?" कहकर मैंने लड़के को अपनी ओर खींचा और विना लड़के का होकर भी लड़के को थपकी देने लगा।

लड़का भी बड़ा अजीब था। जहाँ मेरा हाथ फिरा कि झट सो गया। मैंने उसकी ओर देखा और हमें ऐसी हँसी आई कि जैसे हमने सारे संसार को जीत लिया हो।

उसके बाद हम उस एक ही गद्दे पर सर रखकर एक दूसरे की ओर मुँह करके लेटे और सोने का प्रयत्न करने लगे। साधारणतया मैं सोनेवाला एक ही हूँ। और यदि आज की सी परेशानी और महमाननवाजी किसी और दिन हुई होती तो आँख मींचते ही सो गया होता पर न जाने जगह के नएपन के कारण, या आवश्यकता से अधिक चाय पी जाने के कारण या शय्या की साथिन के अपरिचित होने के कारण कुछ भी हो, मेरा सर दर्द करने लगा, रीढ़ की हड्डी दुखने लगी, पसलियाँ टूटने लगीं, पैरों में भड़कन होने लगी और मैंने गिनती गिनी, राम नाम जपा तथा पिनल कोड की धाराओं को एक-एक करके याद किया। इतना होने पर भी आँखें वैसे ही खुली रहीं। उस स्त्री ने भी सोने का प्रयत्न किया हो, ऐसा नहीं लगा।

जब जागते-जागते बहुत देर हो गई तो अचानक नींद का एक झोंका आया पर इतने में ही वह लड़का कुलबुलाने लगा और मैंने एक हाथ उसके ऊपर थपकी देने को रखा।

उस स्त्री ने थककर करवट बदली और लड़के को कुलबुलाते देख स्वाभाविक ढङ्ग से हाथ बढ़ाया और लड़के की पीठ पर रखे हुए मेरे हाथ पर अपना हाथ रखा।

मैं बैठा हो गया। "हे भगवान्।" मैं चिल्लाया।

वह स्त्री भी बैठी हो गई। "ओ मेरी माँ।" उसने कहा।

हम एक दूसरे का मुँह देखने लगे और जगार से थके होने पर भी हँस पड़े।

"कम्बख्त सबेरा कब होगा ?" उसने पूछा।

"मैं भी यही सोचता हूँ।"

जैसे हमारे प्रश्न का उत्तर दे रहा हो ऐसे दीपक जरा तेज हुआ। हमने घबराहट से एक दूसरे को और उस दीपक को देखा। वह बेचारा भी बुझ गया।

सबेरे के पाँच बजे मैंने जीने की किवाड़े खोलने की हिम्मत की। मैं दयालजी को ढूँढ़ने चला।

"दयालजी भाई। मैं तो अब चलूँगा।"

"क्यों साहब ?" चौंककर उसने पूछा। उसको लगा जैसे मैं गुस्सा हो गया होऊँ।

"अरे, यहाँ आने की उतावली में मैं यह भूल गया कि आज मुझे कमिश्नर से मिलना है।"

"अररर ! अब ?"

"कोई बात नहीं ! एक गाड़ी सबेरे आती है और उससे चार बजे तक बम्बई पहुँच सकते हैं।"

"अरे राम राम ! लेकिन भाभी तो रहेंगी न ?"

"नहीं, यह भी नहीं हो सकता। मुन्ने को डाक्टर को दिखाना है।"

बेचारा बुड्ढा बेहद दुखी हुआ पर काम का महत्त्व देखकर चाय बनवाई, बहली जुतवाई और मकनजी से हमारे साथ जाने के लिए कहा। मैं इसे कैसे स्वीकार कर सकता था ? बड़ी मुश्किल से मैंने उसे समझाया। आखिर चाय पीकर और भेंट देकर मैं और मेरी कामचलाऊ धर्मपत्नी हँसते और सबका अभिवादन स्वीकार करते वहाँ से चले।

रास्ते में भी हम निधड़क बातें करते चल रहे थे क्योंकि अन्धकार के दूर होने से हमारे क्षोभ और लज्जा भी दूर हो गये थे। अन्त में स्टेशन आया। यह सोचकर कि बहलीवाले को ठहराये रखना अच्छा नहीं है, उसे एक रुपया इनाम देकर बिदा कर दिया। अब हम बिलकुल निश्चिन्त हो गये क्योंकि एक बार यदि रेलगाड़ी में बैठ गये तो फिर कौन पूछनेवाला है।

हम पोर्टर की कोठरी के पास खड़े हुए और पोर्टर से कहा कि गाड़ी को खड़ी रखवावे।

गाड़ी दिखाई दी पर जैसे ही वह स्टेशन के निकट आई कि पोर्टर की कोठरी का दरवाजा खुला और अन्दर से किसी ने जोर की आवाज में कहा—

"अरे! तू कहाँ गई थी?"

मेरे पैरोंतले की जमीन निकल गई। मैं पीछे मुड़ा और काले नाग जैसे उस लम्बूस को फुंकार मारते देखा।

लेने के देने पड़ गये और अपने राम ने विचार किया कि अब मारे गये बाबू साहब विना रोब के। इसलिए चपरासी और चौकीदार के लिए चौड़ा किया गया सीना और रोब दिखाकर, ऊँची गर्दन करके और कमर पर हाथ रखकर मैंने कहा—

"अरे मिस्टर! कल तो तुम गाड़ी में ही रह गये। यह तुम्हारी औरत बेचारी—"

"अरे मिस्टर के बच्चे!" उस लम्बे ने मेरे रोब की परवाह किये विना कहा, "मैं तो तुरन्त रेलगाड़ी रुकवाकर उतर आया था लेकिन तू मेरी औरत को कहाँ ले गया था?

कल सारी रात मैं खोज-खोज करके हार गया। कहाँ ले गया था, बोल?"

मेरे रोब का तो कोई असर ही न था। साथ में कोई चपरासी भी न था कि उसे मेरी पोजीशन का भान कराता इसलिए घबराहट में मैं यह कहने ही जा रहा था कि मैं अमुक इलाके का हाकिम परगना हूँ पर मुँह से शब्द निकालूँ-निकालूँ कि उससे पहले ही वह लम्बूस, शुतुर्मुर्ग की चाल से घूँसा ताने मेरे पास आया और उसके पीछे निकला उसका एक मित्र खादी की टोपीवाला। अब हाकिम परगना तो क्या, यदि कलक्टर भी कहूँ तो भी यह दुष्ट न मानेगा।

इससे पहले कि उसकी आँखें अपनी औरत से मेरी तरफ फिरें मैंने देखा कि रेलगाड़ी खड़ी है। मेरे सामने के डिब्बे का दरवाजा भी पोर्टर ने खोल रखा था। बहुत देर तक अपनी प्रतिष्ठा और जान को जोखिम में न रखकर मैं कूदकर गाड़ी में चढ़ गया और दरवाजा बन्द कर लिया। कलक्टर साहब के साथ मैं जो दीनता दिखाता हूँ उसी से मैंने अदृष्ट देवताओं को मनाया।

देखो तो सही! उपकार का बदला अपकार। बेचारी बिछुड़ गई थी, उसे मिला दिया यह तो कहता नहीं, गाड़ी चलने पर मैंने कहा। "धत्त रे की।" चलते-चलते मैंने पीछे देखा और हमारी आँखें क्षण भर के लिए मिलकर बिछुड़ गईं।

और मेरी पन्द्रह घंटे की पत्नी जो गई तो फिर सदा को ही चली गई।

कोकिला

मेरी स्त्री को मरे दो-तीन महीने हो गये थे, इसलिए मैं स्थान-परिवर्तन करके बेचैनी मिटाने का कुछ उपाय सोचने लगा। मई के महीने में छुट्टियाँ हुईं तो सदा की भाँति बम्बई छोड़कर बाहर जाने की इच्छा हुई।

अदालत के वातावरण से कुछ समय के लिए अलग होना नितान्त आवश्यक है। मनुष्य की क्षुद्रता के इतिहास को छोड़कर कभी-कभी प्रकृति की गोद में जाकर बैठना भी जरूरी है। लेकिन जलवायु-परिवर्तन के प्रख्यात स्थानों से मुझे घबराहट होती है। बम्बई की हलचल को छोड़कर मन स्वभावतः स्वच्छन्द आनन्द और विनोद के स्थान पर जाना चाहता है; लेकिन पाश्चात्य सभ्यता की अनन्त प्रवृत्तियों में न जाने क्या खूबी है कि उनमें चक्कर लगाता हुआ कीड़ा कभी उनके विकार को नहीं छोड़ सकता। माथेरान में फैशन की तुच्छ कृत्रिमता है; महाबलेश्वर दूसरे बालकेश्वर जैसा है; असंतोषी डुम्मस भी इसी पथ का पथिक होने को लालायित

है। यदि इसी प्रकार कभी भूले-भटके हम स्वर्ग में पहुँच गये तो मेरा विश्वास है कि पुराणपंथी ईश्वर को भी हम किसी फैशनेबुल सम्मेलन के सभापति का पद देकर आधुनिक रीति-नीति सिखा देंगे।

इन सब कारणों से इस बार मैंने पावागढ़ पसंद किया। चाँपानेर मेरे प्राचीन रमणीय गुजरात की ऐतिहासिक राजधानी मेरे मन को अपार उल्लास से परिपूर्ण बनाती थी। उसे देखकर मेरी आँखों के सामने मेरे देश की पुरानी शान-शौकत खड़ी हो जाती, नया ही उत्साह मिलता। उन दिनों का शौर्य और तेज, उस समय की हृदय को हिलानेवाली जीवन-गाथा, उस वीरता-पूर्ण समय का आत्म-समर्पण, आज के व्यापारिक युग में लुप्त हो गया है। खँडहरों को देखकर सोचते रहने के सिवा और कुछ नहीं सूझता।

छुट्टी के बचे हुए दिन मैंने खटिया में पड़े-पड़े ही बिताने की सोची। पावागढ़ की देवी के पुजारी की सिफारिश से मेरे लिए प्रत्येक प्रकार की सुविधा कर दी गई थी। मैंने निश्चय किया था कि दुनिया से दूर जाकर बहुत दिन के चढ़े हुए मैल को मन पर से उतारूँगा और उसे अन्तर की गहनता में डुबाकर चिरकाल से वांछित निवृत्ति का अनुभव करूँगा। मेरे अतिरिक्त भी कोई वहाँ है, ऐसा मुझे नहीं लगा। लेकिन जहाँ मुझे ठहराया गया था उससे लगी हुई कितनी ही कोठरियाँ थीं। मैं यह देखने के लिए कि उनमें कोई रहता है या नहीं, निकला। अंतिम कोठरी में कुछ कपड़ा जैसा दिखाई दिया। मैं यह सोचकर कि मेरे जैसा कोई और भी अपनी धुन का

पक्का आदमी यहाँ एकान्त का आनन्द लूटने आया है, उस ओर चला। द्वार खोला, चौंका और खड़ा रह गया। वहाँ पड़ी हुई किसी सजग सौंदर्य-सेवी के उपयुक्त सामग्री और वह भी बेचारे वृद्ध पावागढ़ में, देखकर मैं स्तब्ध रह गया। वह रसावतार सुविख्यात अंग्रेज कवि शेली के अंग्रेजी काव्य-सा, कोने में पड़ी हुई तिरस्कृत वीणा-सा एक अपूर्व चित्र! मैं विचार-मग्न हुआ। किसी स्वप्न का तनिक-सा आभास हुआ।

घरवाली स्त्री ने टोकते हुए मेरा ध्यान खींचा—"भाई! वहाँ मत जाना। वहाँ तो कोकिला रहती है।"

कोकिला, सरस वसंत के शृंगार जैसा मधुर नाम! मेरा आश्चर्य बढ़ा।

"कोकिला कौन?" मैंने पूछा।

"उनके किसी दोस्त की लड़की कुछ दिन से यहाँ आकर रहने लगी है। यह तुम्हारी शिक्षा का कुफल है।" बुड्ढी जीभ ने लपलपाते हुए बात शुरू की।

नमक-मिर्च अलग करने पर भावार्थ यह निकला कि कोई बेचारी पढ़ी-लिखी कुमारी पागल हो गई है जो डाक्टरों की सलाह से जलवायु-परिवर्तन के लिए यहाँ रह रही है, और उसे इस समय कुछ आराम है।

गुजराती लड़कियों में यह होशियारी, यह नाम और पागलपन, कुछ अरेबियन नाइट्स की-सी बात लगी। मेरा मन इस चमत्कारी व्यक्तित्ववाली नारी को देखने के लिए विकल हो उठा, लेकिन काशीबाई ने कहा—"वह प्रातःकाल ही बाहर निकल जाती है और भाग्य से ही कभी संध्या से पहले

वापस आती है।" यह भी ठीक है। अन्त में मन न माना और मैं बाहर निकला। कुछ भी पता न चला, अन्त में थककर सो गया। सबेरे उठते ही कोकिला के कमरे की ओर गया, लेकिन यह देखकर घोर निराशा हुई कि वहाँ कोई नहीं था। सूर्योदय में तनिक देर थी, पर इस असाधारण सुन्दरी को देखने की लालसा बढ़ने लगी। मुझे जंगल में जल के बिना तड़पते हुए यात्री की मानसिक स्थिति का ध्यान आया। बहुत देर तक खोज की, पर व्यर्थ! अन्त में पापी पत्ताई के टूटे हुए महल में जाकर बैठने का विचार किया और उसकी ओर मुड़ा। उसकी टूटी-फूटी घिसी हुई जीर्ण सीढ़ियाँ उतरकर नीचे आया। छत की ओर दृष्टि डालते ही मेरी आँखों ने अवर्णनीय दृश्य देखा।

छत के किनारे पर अखण्ड-यौवना उषा की संगमरमर की मूर्ति देखकर मैं चौंक पड़ा। उदय होते हुए सूर्य की सुनहरी किरणें उसके श्वेत वस्त्रों पर दिव्यता बिखेरती हुई उसकी कांति को अद्भुत तेज से दीप्त कर रही थीं। यह कोकिला है। गुजरात की अनेक रूपवती रमणियों को मैंने देखा है, उनकी प्रशंसा की है, पर कुशल शिल्पी द्वारा गढ़ी गई अपूर्व प्रतिमा के समान शारीरिक सौंदर्य की पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ ऐसा मुख तो मैंने स्वप्न में भी नहीं देखा। उसमें सुन्दरी रंभा का रूप-गर्व नहीं था, विलासिनियों की टीम-टाम नहीं थी। उसका सौंदय तो जड़जगत् पर अमृत सींचती हुई रूपहली चन्द्रिका की भाँति अज्ञात आह्लाद का प्रसार करता था, किसी अलौकिकता का आभास कराता था। उसका शरीर

ऐसा प्रतीत होता था, मानो किसी पृथ्वी-तत्त्व-विहीन अर्थात् अपार्थिव देवांगना का सूक्ष्म तेजोमय रूप हो। यदि मुझमें पाश्चात्य शिक्षा के फलस्वरूप उत्पन्न जड़वाद की कुछ कमी होती तो मैं उसे कोई पथ-भूली वनदेवी या पास ही के सूखे हुए समुद्र-तट से सूर्य की आराधना करने के लिए निकलने-वाली सागर-कन्या विश्वामित्री समझता। कोकिला का ध्यान न था। मैंने चुपचाप लौटने का विचार किया। लेकिन तुरन्त ही सोचा कि इतने प्रयास के बाद कोकिला मिली है, इसलिए अब अवसर खोना उचित नहीं है।

मैंने खाँस दिया। कोकिला ने मुड़कर मेरी ओर देखा। उसके तेजस्वी रसाल नयनों ने, जिनमें किन्हीं सुनहले स्वप्नों की अर्द्धविस्मृत स्मृतियों का प्रतिबिम्ब झलक रहा था, मेरी ओर आकर्षक ज्योति फेंकी।

"क्षमा कीजिए। आपके विचारों में कुछ बाधा तो नहीं पड़ी?"

वह विना पलक मारे स्थिर नयनों से मेरी ओर देखती रही। मुझे लगा कि निश्चय ही इस स्त्री को मतिभ्रम हुआ है।

"आपका ही नाम कोकिला है न? काशीबाई कहती थीं।"

"जी", धीमे मीठे स्वर से उसने जवाब दिया, "आप कौन हैं?"

"मैं बम्बई में वकील हूँ। मेरा नाम किशोरलाल है।"

मानो डरती हो, मन में कुछ संदेह करती हो, ऐसे धीरे-धीरे उसने बातें कीं। साथ-साथ हम बाहर आये। ज्यों ज्यों मैं कोकिला को देखता त्यों-त्यों अधिकाधिक आश्चर्य--चकित

होता। उसका रूप, स्वर, वेश-भूषा—सबमें एक प्रकार का लावण्यमय व्यक्तित्व दिखाई देता था। जैसे ताजमहल का पत्थर पूर्ण सौंदर्य से शोभित होता है वैसे ही उसकी हरएक हरकत अपूर्वता से दीपित होती। हम साथ चल रहे थे, लेकिन जब मैं उसकी ओर देखता और उसकी मदमाती चाल पर मेरी नजर पड़ती तब मैं लज्जित होकर अपनी ओर देखता और मुझे ऐसा लगता मानो मैं गुलीबर के साथ घोड़ों के देश में जाकर उनकी रवाल चाल सीखकर चल रहा होऊँ।

इस लावण्य ने मेरी जिज्ञासा इतनी बढ़ा दी थी कि कुछ पूछने का मन हुआ। एक-दो प्रश्न किये। उनका उत्तर ठीक नहीं मिला। लेकिन वकालत और कुत्ते की पूँछ दोनों एक-सी हैं। जिरह करने में जरा नाम कमा चुका था इसलिए इस समय भी मेरी जीभ चुप न रह सकी।

"आप विवाहिता हैं या कुमारी?" कौन सौभाग्यशाली इस निधि का स्वामी है, यह जानने की उत्कंठा होना स्वाभाविक था। लेकिन मेरे शब्दों ने कुछ और ही असर किया। कोकिला मेरी ओर मुड़ी, तेजोमय नेत्र कुछ चमके, कठोर हुई, क्रोध में मुख पर कुछ लाली आई। क्रोधाभिभूत वह मुझे छोड़कर बगल की एक पगदण्डी से झटपट चली गई। मैं लज्जित, धमकाये हुए बालक जैसा विवर्ण चेहरा लिये खड़ा रहा। यदि अपनी आधी आयु देकर भी इस प्रश्न को लौटा लेना संभव होता तो मैं वैसा करने को प्रस्तुत था। मैं नीची गर्दन किये घर की ओर चला। हृदय चूर-चूर हो रहा था।

कोकिला के मोहक सौंदर्य ने थोड़ी ही देर में मुझे

मदहोश बना दिया था। क्या मैं उसे उस वक्त चाहता था? हो सकता है। लेकिन इस विषय में इतने दिनों के बाद मैं कुछ कह नहीं सकता। हाँ, इतना अवश्य है कि उस समय मुझे यह नहीं सूझा कि मैं क्या करूँ। किसी प्रकार भी शान्ति नहीं मिली। रात को मैं घोर निराशा में पड़ा था कि किसी ने पुकारा—"मिस्टर किशोरलाल!"

जैसे बहुत दिन का खोया हुआ रत्न हाथ आ रहा हो ऐसे मैंने काँपती हुई अभिलाषा से ऊपर देखा। हृदय धड़का, कुछ हर्षित हुआ, द्वार पर कोकिला खड़ी थी। जिन्होंने उस आकृति को नहीं देखा, जो उन नयनों के समक्ष नहीं झुके, उनको मेरे हृदय में स्फुरित मानांकुरों का शायद ही भान हो सके। कोकिला ने आकर सबेरे के व्यवहार के लिए क्षमा माँगी। कोकिला क्षमा माँगे! अपने अपराध के लिए मैंने भी पश्चात्ताप प्रकट किया। कोकिला के बात करने का ढंग कुछ और ही था। कोकिला का मधुर रसमय आलाप ऐसा प्रतीत होता था जैसे निर्जन एकान्त में फैली हुई ज्योत्स्ना की अमृत-मय विमलता में दूर से बजती हुई वंशी हृदय को आनन्द-निमग्न कर रही हो।

वह चली गई, पर सारी रात मेरी स्वप्नसृष्टि की सहचरी बनी रही। निर्दय सूर्य ने मुझसे यह सुख छीन लिया। उसके बाद दुर्भाग्यवश सायंकाल तक भेंट नहीं हुई। ठीक संध्या समय वह खँडहर के पास पड़े हुए एक पत्थर पर बैठी दिखाई दी। ऐसा लगा, जैसे वह सुदूर बादलों के उस पार देख रही हो। उसकी आँखों में किसी विश्ववेत्ता ज्ञानी की विशाल और

प्रफुल्ल आँखों का प्रकाश जगमगा रहा था। हमने बातें कीं। हमें एक दूसरे के विचार जानने का अवसर मिला। उस निर्जन प्रदेश में बात करनेवाले हम दो ही थे, इसलिए ऐसे अवसर अनेक मिले। हर बार मैं उसमें कुछ नवीनता देखता और मुझे उसमें ऐसी-ऐसी विशेषताएँ दिखाई देतीं, जिनके विषय में मैंने कभी सोचा ही न था।

कोकिला की चाल-ढाल और बातचीत में एक नवीनता थी। एक पुरुष में दूसरे पुरुष से बात करने के लिए जो साहस, स्वातंत्र्य और गौरव अपेक्षित है उससे वह मेरे साथ बात करती। अभिप्राय यह कि उसमें हमारी लजाती-घबराती स्त्रियों की सी झूठी लज्जा का नितान्त अभाव था। इस कारण हमारे भीतर समानता की भावना जगती और हमको बातों में रस आता। तीव्र ज्ञानेन्द्रियों को अद्भुत रस-राशि मिलती। जो सौंदर्य, जो रस, जो भेद हमको सृष्टि, काव्य या स्वर में दिखाई तक न देता उसे उसकी सूक्ष्म बुद्धि सहज ही अनुभव कर लेती और ज्वलन्त शब्दों द्वारा मुझे भी उसके रस का आस्वादन कराती। कभी-कभी किसा गंभीर विचार के आने पर उसका स्वर रुक जाता, चेहरा उदास हो जाता और वह सुदूर देखती हुई नींद में चलनेवाले मनुष्य जैसी हो जाती।

कोकिला की जीवन-सम्बन्धी धारणा असाधारण थी। थोड़े ही परिचय से मुझे इस बात का अनुभव हो गया। अक्सर वह कहा करती—"हम लोगों का जीवनादर्श कैसा तुच्छ होता है। हम सामान्य नहीं महान् हैं। इस भव्य सृष्टि की भव्यता हम में है, उस महाप्राण का सौंदर्य हम में है।

केवल उसको जानने की इच्छा नहीं, जानने का प्रयत्न करने का साहस नहीं। अपनी जीवन-वीणा को विश्व-वीणा के साथ संवादी बनाओ। उसके स्वर अन्तर में जागेंगे, हमें प्रभु-मय बनावेंगे। इस संवाद का ही नाम जीवन है। बहुत से असंस्कारियों को तो अपने बेसुरे जीवन के कठोर स्वर ही अच्छे लगते हैं।" उसके वाक्य, उसका रूप, उसका काव्यमय सौंदर्य-सेवी जीवन मेरे भीतर नई भावनाएँ जगाता, मुझे बदलता, मेरे अन्तर की गहराई में से चमकते हुए रत्नों को बाहर लाता।

इस नये तत्त्वज्ञान ने मेरे गर्व को चूर कर दिया। टाईटानिक स्टीमर के बनानेवालों ने उसे ऐसा बनाया था कि जो कभी न टूट सके लेकिन महामाया के खिलौने जैसे एक आइस-बर्ग ने—बर्फ के टीले ने—उसे एक विपल में ही नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। उस समय उस स्टीमर बनानेवालों की जो दशा थी वही दशा इस समय मेरी थी। मेरा पैसा कमाकर, मोटर में बैठकर बालकेश्वर की अमरावती में विहार करनेवाला और विषय-लालसा को लक्ष्य बनाकर जिन्दगी पूरी करने की आशा रखनेवाला जीवन इस सादा रसमय जीवन की पवित्र भावना के आगे हार मान गया, झुक गया। मुझे अपने भौतिक जीवन पर ग्लानि हुई। धन-सम्पत्ति, आमोद-प्रमोद और सत्ता के सुख क्या हैं? कोकिला के समान हृदय को कोमल बनाकर रस-सरिता की उछलती हुई तरंगों के साथ बहना ही सुख है, प्रेम, सौंदर्य और उसका अनुभव ही सुख है। ऐसे अनेक पाठ मैंने कोकिला के चरणों में बैठकर पढ़े। उसकी व्याख्या से पुराने कवियों में नया रस दिखाई दिया। मेरी पुरातन सृष्टि

पर नव वसंत लहराने लगा। दो-चार दिन में जगत् के सौंदर्य-सागर की कितनी ही लहरें मेरे हृदय-तट को छू गईं।

धीरे-धीरे मैं बन्दी बनता गया, प्रेम की सुखमय सुनहली जंजीर में जकड़ता गया। मेरी स्वर्गीया पत्नी बहुत ही अच्छी थी, मुझे परमेश्वर समझती थी। उसके लिए मेरे मन में आदर था परन्तु यह नई आनेवाली बाढ़ अद्भुत थी। जिस मानसिक सहृदयता से कोकिला के लिए मेरे हृदय में सम्मान का भाव जाग्रत् हुआ था, जो भावनाएँ उसके रूप, लावण्य और संस्कारी विचारों से पैदा हुई थीं वे 'शुद्ध सात्त्विक प्रेम' की उमंगें मेरे हृदय के लिए बिलकुल नई थीं।

इस स्वर्गिक सम्पर्क में पाँच-सात दिन बीते। यदा-कदा परिलक्षित होनेवाले सनकीपन के अतिरिक्त और किसी प्रकार का पागलपन मुझमें नहीं आया। लेकिन इस विचित्र स्थिति का कारण जानने की स्वाभाविक उत्कंठा बढ़ने लगी। अधिक परिचय होने पर जब मैंने उससे पूछा कि तुमने इतनी अधिक प्रवीणता कहाँ से प्राप्त की तो मालूम हुआ कि कोकिला का बाप बम्बई की किसी अंग्रेजी दुकान का व्यवस्थापक था। समस्त व्यवस्था उसी के जिम्मे थी। उसके मालिक की भी उस पर बड़ी कृपा थी। चार वर्ष की उम्र में ही कोकिला बिना माँ की हो गई। पुराने जमाने के "इम्पीरियलिस्ट" विचारों से अज्ञात अंग्रेज और उसकी सुशिक्षिता स्त्री ने अपने नमकहलाल नौकर की इकलौती लड़की को अपने आश्रय में लिया और उसे अपनी लड़कियों के साथ शिक्षा दिलाई। कोकिला ने हर विषय में उनकी आशा पूरी की और आशा-

तीत योग्यता प्राप्त की। जब वे वृद्ध पति-पत्नी विलायत चले गये तब भी समय-समय पर अपनी 'काली' पुत्री के प्रति अपने अचल प्रेम का परिचय देते रहे और कोकिला भी अपने हिन्दू-हृदय की कृतज्ञता से उनके प्रति पुत्री से भी अधिक पूज्य भाव प्रकट करती रही।

बात करते-करते कोकिला को बचपन की याद आई, हृदय उमड़ा और बोली—"उसी समय मुझे यह दिव्य प्रेरणा हुई। मैंने दृढ़ निश्चय किया कि जीवन को पूर्ण लावण्य से मंडित करूँगी, प्रत्येक विचार को, प्रत्येक कार्य को संवादी सौंदर्य से शोभित करूँगी। मेरी असाधारण शक्तियों ने बड़ी सरलता से इस कार्य को करना आरंभ किया। विजय सामने दिखाई देने लगी।" स्वर बदला, "लेकिन ईश्वर को यह अच्छा नहीं लगा।...........एक वस्तु की कमी हुई........ और उसकी कमी होते ही सब, है...........।" शब्द रुके। बड़े-बड़े नेत्रों में छिपे हुए आँसू चमके, कोकिला ने हिचकी ली।

मैं पीड़ित हुआ—व्याकुल हुआ लेकिन कोकिला के प्रति मेरी सम्मान-भावना इतनी प्रबल थी कि मुझे आश्वासन देने का भी साहस न हुआ। मुझे विश्वास हो गया कि इस बेचारी निर्दोष नारी का कोमल हृदय किसी वज्राघात से फट चुका है। क्या यह उसे नहीं भुलावेगी? मैंने निश्चय किया कि प्राण देकर भी यदि ऐसा संभव हुआ तो मैं अपने जीवन को सार्थक समझूँगा।

सहृदयतापूर्ण सत्संग में समय भी शरमाता है। आनन्द-स्वरूप मोक्ष में काल का अभाव होता है। कोकिला के चरणों

में बैठकर नये जीवनादर्शों का ज्ञान प्राप्त करते हुए समय बीत गया। बातों ही बातों में दिन चले गये और छुट्टियाँ पूरी हो गईं। बोरिया-बिस्तर बाँधा और पावागढ़ के अनुभवों को प्रणाम किया। काव्य-रसिका कोकिला को छोड़ते समय आँखों में आँसू आ गये।

मुँह पर तमाचा मारकर, गाल लाल कर बम्बई आया। बाजारू बम्बई की दुनियावी बातों में फँसने लगा परन्तु कोकिला से पढ़े हुए काव्यमय जीवन के पाठ को थोड़ा-थोड़ा क्रियात्मक रूप देने लगा। मित्र हँसते, सज्जन जरा सर हिलाकर सोच में पड़ जाते, केवल मैं ही मन में प्रसन्न होकर अपने हृदय को सौंदर्य के उपयुक्त बनाने लगा। जीवनाकाश में नये-नये इन्द्रधनुषों के आकर्षक रंग छिटकने लगे लेकिन फिर भी कोकिला के विना हृदय और जीवन सब शून्य लगने लगे। मुझे सच्चे सहृदय साथी की आवश्यकता अनुभव होने लगी। प्रेम की तीव्र अभिलाषा के विना जो अनेक व्यक्ति संसार के उस पार गये हैं उनमें कुछ हृदयहीन थे और कुछ अल्प-संतोषी। परन्तु जब अन्तर के संस्कार विकसित होते हैं तब तृषित पुकार निकलती है—प्रेमी के विना प्राण तड़पते हैं। इसलिए कोकिला जैसी देवीस्वरूपा नारी को देखकर यदि असंतोष तीव्र हो जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। सभी व्यक्ति अपूर्ण दिखाई देते। वही रम्य मूर्त्ति दृष्टि के सम्मुख रहती, श्वास-श्वास में उसी की रटना चलती।

बहुत दिन तक कोई खबर नहीं आई। मैं रात-दिन उसी के ध्यान में रहता। आखिरकार स्वाति-बूँद गिरी।

कोकिला का पत्र आया। वह बम्बई आई थी। अक्षर देखते ही मन बावला हो गया। मेरा वश चलता तो प्रत्येक शब्द को हृदय में अंकित कर लेता। उस पत्र के स्पर्श ने कुछ शान्ति और कुछ अशान्ति दी और मेरा मन मिलने के लिए बेचैन हो गया।

मैं कोकिला से मिला। वह पहले की अपेक्षा कुछ ज्यादा कमजोर थी, मानसिक उत्साह भी कुछ कम हो गया था। वह यांत्रिक पुतली की तरह अपना कर्तव्य निभाती। केवल गाने या पढ़ने में अन्तःकरण थोड़ा दीप्त होता और नई किरणें निकलतीं। उसका बाप बड़ा ही दयालु, शिक्षित और सत्यवादी पुरुष था। उसकी धारणा थी कि अधिक पढ़ने का ही यह दुष्परिणाम निकला है। लेकिन तो भी वह साहस और धैर्य से सब सहता और अपनी इकलौती लड़की के अशान्त मन को यथासंभव सान्त्वना देने में ही अपनी कृत-कृत्यता मानता। कुछ दिनों में उसके साथ भी मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया। मैं बार-बार वहाँ जाने लगा और पावागढ़ से आने के बाद भूले हुए पाठों को ताजा करने लगा।

मेरे जीवन में परिवर्तन होने लगा। पैसा लूटने की शुष्क प्रवृत्ति में प्रवीण पुरुषो ! हँसना मत। तुम्हारी रजोगुणी अनन्त धमाचौकड़ी, तुम्हारे नीरस और एकाकी विचार, तुम्हारे संकुचित और उमंगहीन हृदय ही यदि जीवन का सर्वस्व होते तो फिर नरक की सृष्टि की क्या आवश्यकता थी ? संसार के स्वार्थमय क्रियाकलाप के भीतर भी काव्यमय जीवन के अमूल्य निर्झर झरते हैं। उन्हें खोजो, वहाँ संतोष प्राप्त

करो और तुम देखोगे कि फिर अरण्य जैसे संसार में भी स्वर्ग की लहरें नृत्य करने लगेंगी। शेली के रस-सागर में—निर्बन्ध हृदयप्रवाह में नहाना, सृष्टि-सौंदर्य के सार सदृश स्वरों का तालमय आरोहावरोह, नाना प्रकार के अद्भुत ईश्वरीय रंगों से अपनी आत्मा को रँगना—यही जीवन की सार्थकता है, अन्यथा यों तो पशु भी जीते हैं।

परन्तु कोकिला की बढ़ती हुई विवर्णता और अधिकाधिक अशक्त होता हुआ शरीर मेरे मन को झकझोर देता था। पहले तो उसका शरीर किसी देवांगना के समान सूक्ष्म और दैवी था। लेकिन अब अत्यधिक दुर्बलता के कारण ऐसा लगता था मानो वह तेज की क्षणभंगुर अवर्णनीय प्रतिमा हो। उसे देखकर यह भय उत्पन्न होता कि वह न जाने कब हाथ से निकल जाय। केवल उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ कुछ तीक्ष्ण हो जातीं और वह किसी रसिक देवबाला की भव्य दृष्टि से सब कुछ देखती तथा अत्यंत तेजस्वी शब्दों में उसकी व्याख्या करती।

मेरे मन की उमंगों ने अपना कुछ स्वरूप प्रकट करना आरंभ किया। मेरी स्त्री को मरे कई महीने बीत चुके थे और उसकी मृत्यु से उत्पन्न उदासी कोकिला के प्रेम के कारण कुछ कम हो गई थी। सांसारिक दृष्टि से किये गये विवाहों से उत्पन्न प्रेम क्षणिक ही होता है। स्त्री के लिए 'सत्ता' होनेवालों को उसके मरने के बाद वर्ष भर में ही पाणिग्रहण करते देखा जाता है। सुविधा के लिए अपनी विवाहिता स्त्री की अनुपस्थिति में, असुविधा दूर करने के लिए दूसरी शादी करने की बात सूझना कोई पाप नहीं है। ये सब विचार मेरे मन में आये

और इन भले या बुरे विचारों का केन्द्र-स्थान कोकिला थी। सांसारिक दृष्टि से उसे अपनी बनाने के संकल्प आने लगे। मुझे यह मार्ग बहुत ही अच्छा जँचा। प्रेम प्राप्त कर मुझे प्रभुता मिलेगी—कोकिला की अशान्ति कम होगी। विवाह द्वारा हमें अपने उच्चादर्श को प्राप्त करना सरल हो जायगा, ऐसा भी मुझे लगा। लेकिन कोकिला जैसी देवी से विवाह के लिए कहने की हिम्मत कहाँ से आवे? जब उस तेजस्विनी के समक्ष साधारण विचारों का प्रकाशन भी नहीं किया जा सकता तब यह कैसे कहा जाय। हिम्मत बाँधी और रमणीय एकान्त में एकाकी घूमती कोकिला के चरणारविन्द में अपना हृदय, अपनी आशाएँ, अपना सर्वस्व समर्पण कर कृतार्थ होने का निश्चय किया। उसकी तबियत भी खराब रहती थी—मन मुरझाता जाता था। उसे भी रस-सिक्त कर पुनर्जीवित करने की इच्छा थी।

एक दिन संध्या समय हम बैठे हुए बातें कर रहे थे। बात मेरे स्वभाव की उत्क्रान्ति को लेकर चल रही थी। कोकिला मेरी नई रसज्ञता का विवेचन कर रही थी।

"लेकिन कोकिला! अभी मैं कई दृष्टियों से अपूर्ण हूँ।" मैंने कहा।

"अपूर्णता सदैव रहेगी। पूर्णता आती तो दिखाई देती है, मिलती नहीं। प्रत्येक शिखर पर पहुँचकर उससे ऊँची चोटी दिखाई देती है। होगा, परिश्रम करो, फल मिलेगा।" कुछ मुस्कराते हुए कहा, "हमारे यहाँ कहावत है न कि नर से ही नारायण होते हैं।"

"मैं तुम्हारा कितना आभारी हूँ ? यह स्थिति भी तुम्हारे द्वारा प्राप्त हुई है और अब आगे बढ़ना भी तुम्हारे ही द्वारा संभव है।" मेरी आवाज में—मेरे शब्दों में उसे कुछ नवीनता लगी। विकसित नयनों से मेरी ओर देखती हुई वह बोली—"मेरे द्वारा ?"

अब विलम्ब करना व्यर्थ था। मैंने साहस करके कहा, "तुम्हारे ही द्वारा ! हाँ ! तुम देखती नहीं कोकिला ! आज कितने दिनों से मैं तुम्हारे द्वारा निर्दिष्ट भावना के बल पर ही जी रहा हूँ ? तुम्हारा दास होने योग्य तो नहीं, लेकिन...."

जैसे मैंने कोई आघात किया हो, ऐसे उसका मुख विवर्ण हो गया। गहरी तेज-रश्मियाँ उसके नयनों से निकलकर अदृश्य हो गईं। पहले जब कभी विवाह की बात चलती तो वह चुप रहती लेकिन इस समय उसने इस प्रकार उलटा हाथ उठाया जैसे वह किसी भय को दूर ठेल रही हो। जैसे एक प्रेत उठता है ऐसे वह उठी, पागल की-सी दृष्टि से इधर-उधर देखा और चलने लगी। मैंने देखा कि मेरे शब्दों ने उसे बहुत कष्ट पहुँचाया था। मैंने कभी यह सोचा भी नहीं था कि उसमें इतना परिवर्तन हो जायगा। मैं उठा, कोकिला का हाथ पकड़ा, और कृतज्ञता के भाव से पूछा—"अरे ! क्या तुम्हें बुरा लग गया ?"

मेरी बात वह न सुन सकी। उसका चित्त ठिकाने न था। मैंने कहा, "कोकिला !" मेरी आँखों में आँसू आ गये। इस दुःखमय क्षण का अनुभव कराने की अपेक्षा तो मैं पाँच

बार बिना विवाह के मरना अच्छा समझता। कुछ चेत हुआ।
"कल, इस समय नहीं।" शववत् कोकिला के मुँह से ये शब्द निकले।

मेरी आँखों के सामने अँधेरा छा गया। बैठ गया। रोते हुए हृदय से घर आया। पिछली रात को जगी हुई आनन्द की उमंगें दब गईं। गहरी उदासी छा गई। हे प्रभु, किस कुसमय में मैंने यह बात कहने का विचार किया। क्या अब कोकिला मुझसे बात न करेगी? मेरी प्राणेश्वरी मेरी ओर नहीं देखेगी, नहीं हँसेगी? पापी प्राणों को बाहर निकालने पर भी यदि क्षमा-दान मिल सकता तो मैं वैसा करने को तैयार था। यदि मेरे जीवन में से कोकिला अस्त हो गई तो आगे आनेवाले अँधेरे दिनों की अपेक्षा अनन्त मृत्यु समाधि की निर्विकल्पता क्या बुरी है? मैं सारी रात रोता-झींकता रहा, एक पल भी आँखें नहीं लगीं।

अधीर, घबराता हुआ मैं कोकिला के यहाँ गया। उसके पिता ने उदास स्वर में मुझसे कहा—"कोकिला की तबियत कल बहुत खराब हो गई थी। तुम्हारे जाने के बाद वह बेहोश हो गई थी।"

"अब क्या हाल है?"

"कुछ ठीक है। मुझसे कहा है कि जब तुम आओ तो तुम्हें ऊपर भेज दूँ।"

मैं जाने के लिए उठा। वृद्ध ने प्रेम से पास बुलाया और कहा—"किशोरलाल! मेरी लड़की चाहे जैसी हो पर मेरी आँख की पुतली है। उसे सँभालना।"

इस वाक्य से मुझे लगा कि वृद्ध के कान में कल की बात की भनक पड़ गई है। लेकिन झूठ बोलने की मुझमें ताकत नहीं थी। फाँसी की सजा पाये हुए कैदी की भाँति मैं काँपता हुआ कोकिला के पास गया।

उसका शरीर निस्तेज हो गया था। एक रात में वह काफी कमजोर हो गई थी। वह आँखें मींचे आरामकुर्सी पर पड़ी थी। मैं गया तो उसने आँखें खोलीं।

"किशोरलाल ! क्षमा करना," आज कोकिला का कंठ शुष्क और निर्बल था। "कल तुम्हारी बातों की अवहेलना हो गई हो तो बुरा न मानना! समझ लेना कि मुझे होश नहीं था। तुम जानते ही हो कि मुझे ये बातें अच्छी नहीं लगतीं।"

"मेरी भूल" आर्द्रहृदय से मैंने कहा।

"यह तुम्हारी भूल नहीं। बड़ा उपकार हुआ। किशोरलाल ! मैं व्यर्थ हूँ—पागल हूँ। दुनिया मुझे जो मदहोश समझती है सो ठीक है। मुझ जैसी तुच्छ को तुमने सम्मान देने की इच्छा प्रकट की, यह तुम्हारी महत्ता है।"

"मेरी महत्ता ? व्यर्थ ऐसी बात न कहो। मैंने तुम्हें इतना असह्य दुख दिया है तब भी तुम ऐसा कहती हो ? मैं इसके योग्य नहीं। तुम भले ही मेरी प्रार्थना स्वीकार न करो लेकिन तुम्हारा सेवक होकर मुझे जो सुख मिलेगा वह सुख मुझे और किसी प्रकार नहीं मिल सकता।"

"सुख ! मैं सुख दूँगी ?" कुछ धीमे हँसती हुई वह बोली, "मुझमें ऐसी शक्ति नहीं है। मैं हृदय से रहित हूँ।

मेरा स्वभाव और शिक्षा ऐसे कृत्रिम हैं कि संसार की प्रचलित प्रणाली के अनुसार न तो मैं सुख प्राप्त कर सकती हूँ और न किसी को दे सकती हूँ।" कुछ नीरस हँसी हँसकर वह फिर बोली—"भाँवरें पड़ते ही मैं अरुचिकर हो उठूँगी—तुम्हारे संसार को अरुचिकर बना दूँगी। यह मैं जानती हूँ कि तुम मुझे प्रेम करते हो। चिरकाल की तुम्हारी मौन भक्ति से भी मैं अपरिचित नहीं हूँ लेकिन मुझसे विवाह करके तुम्हें पछताना पड़ेगा।"

इस बात से मेरे मन को कुछ आशा बँधी और मैंने कहा—"यदि यही कारण है तो इसकी मुझे परवाह नहीं। तुम मुझसे थोड़े ही कह रही हो। मैं कह रहा हूँ, मैं दीन बनकर हाथ जोड़कर कह रहा हूँ। आओ कोकिला मुझे पावन करो।"

कोकिला ने सर हिलाया। धीमी आवाज में जवाब दिया—"तुम देखते नहीं ? मैं स्वार्थी हूँ। मुझे आत्म-संतोष प्रिय है। मैं सौंदर्य-शास्त्र के अध्ययन में अपने को खो चुकी हूँ। पत्नी बनकर पति को रिझाने की शक्ति मुझमें नहीं है, गृहिणी बनकर घर चलाने की बुद्धि मुझमें नहीं है और माता बनकर बच्चों के लालन-पालन की लालसा मुझमें नहीं है। मैं पागल हूँ, दुनिया से अलग हूँ, ईश्वरीय सत्ता की मनुष्यरूपी भूल हूँ। मेरे लिए तो एकाकीपन ही अच्छा है।"

"बहुत हो चुका! अब मैं और कुछ नहीं सुनना चाहता। यदि यही कारण हो तो सुनो—मुझे पैर पलोटनेवाली पत्नी नहीं चाहिए, घर चलानेवाली गृहिणी नहीं चाहिए

और नहीं चाहिए मुझे देवी—पूजने, फूल चढ़ाने, गोदी में सर रखकर स्वर्ग का आनन्द लेने, और देव-पद प्राप्त करने के लिए। भार्या की चिन्ता नहीं है, मुझे तो भगवती जीवनेश्वरी चाहिए और यह तुम्हारे हाथ में है। तुममें प्रेम नहीं है? कोकिला! अपने पवित्र मुख द्वारा तुमने मुझे आन्तरिक प्रेम के साथ सृष्टि-सौंदर्य का संदेश दिया है। तुमने ही कहा है कि जब दो संस्कारी हृदयों में यह एकता स्थापित होती है तब स्वर्गीय प्रेम की प्राप्ति होती है। क्या तुम भूल गईं? तुम देवी हो। मेरे साथ तुम एकता स्थापित नहीं कर सकतीं पर मैं करूँगा—करने का प्रयत्न करूँगा। आओ, आओ, 'ना' मत कहना—देवी!" उमड़ते हुए प्रेम के कारण कंठ गद्‌गद हो गया। आँखें सजल हो गईं। पैरों में गिर पड़ा। कोकिला का हाथ पकड़ा—पकड़ा क्या, स्वतः ऐसा हो गया। सोचता था कि इसी सुकोमल हाथ को पकड़-कर पार हो जाऊँगा। उसकी आँखों में भी आँसू भरे थे।

दुखभरे स्वर में हिचकी भरकर वह बोली—"किशोर-लाल, तुम ऐसा न कहो। मेरा हृदय फटा जाता है। मैं यह स्नेहोपहार स्वीकार न कर सकूँगी। क्षमा करो।" भयभीत व्यक्ति की भाँति उसकी आवाज धीमी हो गई। वह फिर बोली—"क्षमा करो किशोरलाल! मैं तुम्हें दुख दे रही हूँ, पर प्रेम मुझसे नहीं दिया जा सकेगा।"

"क्यों नहीं?"

आँखों से अश्रुधारा बहाते हुए काँपते स्वर में कोकिला ने कहा—"यदि तुम पूछना ही चाहते हो तो मैं सत्य कहती

हूँ कि मैं तुम्हें प्रेम नहीं दे सकूँगी और प्रेम के विना विवाह व्यर्थ है।"

मन में कुछ अभिमान जगा। "तनिक भी प्रेम नहीं दे सकोगी? दया-दाक्षिण्य कुछ भी नहीं? मैंने यह कभी नहीं सोचा था।" मेरा सम्मान पीड़ित हो उठा। मैं सजग हुआ और भरे हुए हृदय को लेकर वहाँ से चलने को उद्यत हुआ पर चल न सका। मैं कुछ दूर जाकर बैठ गया। दबी हुई भावनाएँ बाहर आने लगीं और मैं हिचकी भर-भरकर रोने लगा।

कोकिला उठकर मेरे पास आई। स्नेहपूर्वक मेरे कन्धे पर हाथ रखा और बोली—"किशोरलाल! यह क्या? ऊपर देखो। क्या यह तुम्हें शोभा देता है? तुम गलत समझे। मैंने तुम्हारे लिए नहीं, अपने लिए कहा है। मैं हृदयशून्य हूँ। क्यों? इसे कोई नहीं समझता। असंख्य घावों ने मेरे जीवन को बरबाद कर दिया है। बहुत कम व्यक्ति इसे जानते हैं। मैं प्रेम-शून्य नहीं थी। मैं भी प्रेममय थी। मेरा हृदय भी अन्तर की तीव्र अभिलाषाओं से परिपूर्ण था। परन्तु दैव का प्रकोप हुआ, बेचारा प्रफुल्लित हृदय कुचल दिया गया—मसल दिया गया और मैंने मन की बात मन में रखकर पशुतुल्य जीवन स्वीकार किया। कहाँ मेरा वह रूप और कहाँ यह?"

इन शब्दों से मुझे कुछ होश आया। कोकिला के मन की अस्थिरता के जो कारण अब तक अँधेरे में थे उन पर अब कुछ प्रकाश पड़ा। होठों को दाँतों से दबाती हुई कुछ स्थिर होकर कोकिला बोली—"सुनो, जब मैंने इतना कहा

है तो सभी कहे देती हूँ। हृदय फटा जाता है, फिर भी मैं संक्षेप में कहूँगी। कितने ही वर्ष बीत गये। गिनकर क्या होगा ? मैं कालिज में पढ़ती थी और अत्यंत सुखी थी। उस समय मेरा एक मित्र था। उसके मोहक सौंदर्य, बाहर से दीखनेवाले स्नेहपूर्ण स्वभाव और बात करने के आकर्षक और मधुर ढंग से मेरा अबोध हृदय उसके वश में हो गया। हम साथ घूमते, साथ पढ़ते। मेरी बुद्धि और मेरी शक्ति तीव्र थी। मेरा हृदय प्रणयी था। उसने उसे अपना स्वामी बनाया। किशोरलाल ! मैं अभिमान नहीं करती पर इतना अवश्य कहूँगी कि मेरी भावनाएँ अपूर्व थीं। ऐसी शायद ही कहीं मिलती हों। मेरा यह देवता उस उपहार के योग्य न था परन्तु मैं अन्धी थी, इसलिए मैं उसे सब प्रकार से पूर्ण मानती थी।"

आँसू पोंछकर उसने फिर कुछ तेज आवाज में कहना शुरू किया—"मेरे सौभाग्य की सीमा नहीं। पिताजी ने मेरा विवाह उसके साथ कर दिया। प्रेम और समर्पण के विमान में बैठकर मैं स्वर्ग पहुँची। सौंदर्यानुभव में जो एक कमी थी सो पूरी हो गई। संक्षेप में ही कहने दो। विवाह होने से हममें और भी अधिक घनिष्ठता हो गई। सौंदर्य-तत्त्व का साक्षात्कार करनेवाली मेरी तीव्र शक्ति को इस समागम से कुछ दोष दिखाई दिये। मेरे देवता ने कुछ मनुष्यत्व प्राप्त किया। विवाह होने से उसमें भी अधिकार-भावना घर करने लगी। मुझे इस भावना का ज्ञान न था। मैं घबराई। दुर्भाग्य से हमारे समाज की गाय जैसी स्त्रियों की वह व्यक्तित्वहीन दीनता

जिसे हम स्त्रियों का आभूषण समझने में बहादुरी समझते हैं, मुझमें न थी। पति पाकर मैं क्रीतदासी हो जाऊँगी, इसका मुझे खयाल तक न था। समय-समय पर मेरे स्वामी मुझे अपने स्वामित्व का अनुभव कराते गये। उस समय मैं अकुलाती और रोती। कितनी ही बार अनुनय-विनय करती और एक स्नेह-पूर्ण शब्द सुनते ही रीझ जाती। मुझे भविष्य का भान नहीं था। उसके रहस्यमय पर्दे में कौन-कौन से सुख-दुख छिपे हैं, यह मैं नहीं जानती थी। अपने स्वामी के साथ रहने को ही मैं प्रेम और सुख समझती थी।"

उसने खाँसकर अपना गला साफ किया। एक आँसू पोंछा और फिर बोली—"अनुभव ने कुछ और दिखाया। मेरी वृत्तियाँ मानसिक थीं, उसकी शारीरिक और स्वार्थमय। ऐसा लगा जैसे उसके जीवन का ध्येय शारीरिक सुख की जड़ अभिलाषाओं की पूर्तिमात्र हो। स्वार्थपूर्ण और हलके विचारों को जानकर मेरे मानसिक संतुलन को कुछ धक्का लगा। जब मैं उच्च भावनाओं के व्योम में विहार करती तब मेरे स्वामी जीभ के रस या शरीर के सुख की खोज में व्यस्त रहते। मैं अपने कल्पनाओं के संसार से नीचे उतरी—मेरी आँखें खुलीं। देवता के रंग-ढंग देखे। हे भगवान् ! उस दिन के दुख की याद आते ही मेरा समस्त जीवन विष हो जाता है।

"जाने दो इस बात को, बहुत लम्बी हो गई। वह समझता था कि मैं कोई गर्वीला सुन्दर जानवर हूँ। एक दिन कुछ शब्द मेरे कान में पड़े। कुछ मित्रों से उसने कहा—'कुछ दिन ठहर जाओ। मैं उसके होश ठिकाने ला दूँगा।'

मैं उसे ठीक से समझ न सकी, केवल भविष्य की भयंकर छाया ही मेरी दृष्टि पड़ी। मैंने इसका अभिप्राय पूछा। स्वामी ने स्वामित्व दिखाया। मुझसे स्त्री के रूप में अपनी स्थिति समझने को कहा। पहली ही बार यह भेद मुझे मालूम हुआ। जाति-भेद, पति-पत्नी के बीच की स्थिति का अन्तर, संसार की यह कृत्रिम व्यवस्था, मेरे विलास-प्रिय स्वभाव के स्वामी का स्वार्थपूर्ण अहंकार आदि बातों ने मेरे हृदय को बेध दिया। मेरा मस्तिष्क संतुलन खो बैठा और मैं बीमार पड़ गई। दैव ने दयाकर उस समय मुझे मार भी न डाला। स्वामी चिढ़ गये। सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया। तीन महीने की भयंकर बीमारी से जब उठी तब मुझे इसका पता लगा। यह है मेरा जीवन! किशोरलाल, मुझ हतभागिनी का यह इतिहास है। किशोरलाल! आज मैं घूमती हूँ, फिरती हूँ, सब काम करती हूँ पर उस दिन से मेरे सुख का पूर्ण विनाश हो गया है।" यह कहकर वह दबाये हुए आवेग को पूरा-पूरा मार्ग देकर मेरे कन्धे पर माथा रखकर दहाड़ मारकर रोने लगी।

"तनिक हिम्मत बाँधो! यह तुम क्या करती हो?"

कुछ शान्त होकर कोकिला फिर बोली—"हिम्मत कितनी? कब तक? और हिम्मत बाँधी तो तुमको इनकार करके दुखी करूँगी। मैं अपने प्रभु को धिक्कारती हूँ पर मेरा टूटा हुआ हृदय फिर जुड़ने के लिए मना करता है। तुम्हारे प्रेम के लिए मैं चिर कृतज्ञ हूँ। उसके बदले में कहो तो जीवन दे सकती हूँ लेकिन प्रेम नहीं। एक बार मैं मर चुकी थी। तुम्हारी मारी फिर मर जाऊँगी परन्तु तुमसे विवाह करके प्रेम—

पूर्ण आत्म-समर्पण—नहीं कर सकती। तब फिर हमारा शुष्क सम्बन्ध किस काम का ?"

वह बोलते-बोलते रुक गई। मेरा हृदय निराशा की दुख-भरी भावना से भर गया। समझ में न आया कि क्या कहूँ। आखिरकार हिम्मत करके बोला—"कोकिला ! प्रेम न कर सको तो कोई बात नहीं। मेरे ऊपर तुम कृपा की दृष्टि रखो, यही बहुत है। मैं तुम्हें सुखी करने का शक्ति भर प्रयत्न करूँगा।"

कुछ हँसकर उसने कहा—"किशोरलाल ! यह तुम्हें शोभा नहीं देता। क्या विवाह में ही सब कुछ धरा है ? तुम्हारे प्रति मेरी भावना सच्ची है। यदि हम ऐसे ही रहें तो क्या बुरा है ? क्या ऐसे रहकर तुम सुखी न हो सकोगे ? मेरे हृदय का खाली खोल यदि किसी के गले में वरमाला डालने का निश्चय करेगा भी तो तुम्हारे ही परन्तु विना प्रेम के विवाह का व्यर्थ ढोंग रचकर असत्य को अपनाने में क्या रखा है ?"

मैं जीता ! हमारी मैत्री बढ़ी। तब से कोकिला मेरे लिए प्राणों से भी अधिक प्रिय हो गई। वह यथासंभव मेरी निराशा को दूर करने का प्रयत्न करती। मेरे प्रेम की निर्मल धारा भी अपने पूरे वेग में बहती और कोकिला की सेवा करने में ही अपनी सार्थकता समझती। लेकिन फिर भी कोकिला की तबियत अधिकाधिक खराब होने लगी। हम सभी प्रसिद्ध स्थानों पर गये, योग्य डाक्टरों से इलाज कराया पर कोई लाभ नहीं हुआ। सब प्रयत्न निष्फल हुए। अन्त में दूर से यमराज की पदचाप सुनाई दी। मेरी सुन्दर-रसिक

प्राणेश्वरी जीवन की अंतिम घड़ियाँ गिनने लगी। दीपक मन्द होता गया।

चार-पाँच रात के अखण्ड जागरण से थककर मैं नींद में झोंके खा रहा था। कोकिला के पिता उसके पास बैठे थे। उन बेचारे के तो होश-हवास ही उड़ गये थे। इतने में कोकिला ने आँखें खोलीं और कमजोर आवाज में कहा—"पिताजी! किशोर!"

कुछ दिन से वह मुझे संक्षिप्त नाम से ही पुकारने लगी थी। आवाज सुनकर मैं जागा और उसके पास गया। कई दिन से कोकिला बहुत बोलती न थी। आज कुछ बोलने का मन दिखाई दिया। वह बोली—"पिताजी! आपको बहुत दुःख होगा। अब मुझे अपना अन्त निकट आता दिखाई देता है। सारा शरीर ऐसा लग रहा है, जैसे है हीं नहीं। पिताजी! प्यारे पिताजी! मैंने आपको बहुत दुःख दिया और अब बुढ़ापे में आपकी कमर तोड़े जा रही हूँ। किशोर! पिताजी को सँभालना।" ये वचन बेचारे वृद्ध से न सहे गये। वे एकदम बाहर चले गये और दूर से उनके रोने की आवाज आने लगी।

कोकिला कहती गई—"किशोर! तुमको भी गहरा सदमा पहुँचेगा। जीतेजी मैंने कुछ उठा नहीं रखा। मुझे माफ करना। मेरे विषय में गलत धारणा न बनाना। जितना मुझसे हो सका उतना मैंने तुम्हारे लिए किया।" जैसे माँ अपने इकलौते बेटे को बुलाती है, ऐसे उसने मुझे बुलाया और मेरे शीश को अपनी ओर किया। फिर झुके हुए शीश

पर हाथ फेरते हुए बोली—"किशोर ! भाई ! अब मैं चलूँगी। दुनिया ने अपनी करनी में कसर नहीं रखी। अब मुझे उससे छुटकारा मिलेगा।" मेरा शीश उसने और भी अधिक अपनी ओर किया और मेरे माथे को चूम लिया। उस समय मेरा हृदय फटा जा रहा था, फिर भी मैं चुप था।

थोड़ी देर तक वह कुछ नहीं बोली। मैंने शीश ऊपर उठाया तो देखा कोकिला की आँखें फटी हुई हैं—स्थिर हैं। मैंने हाथ हिलाया—वह निर्जीव था। मेरी देवी मरते समय मुझे पवित्र आशीष का चुम्बन देकर स्वर्ग सिधार गई। उसके निर्जीव हाथ पर मस्तक रखकर मैंने चीख मारी। उस समय यदि मेरा वश चलता तो मैं द्वार बन्द करके तब तक रोता रहता जब तक कि कोकिला की भाँति मेरा शरीर भी शव न बन जाता।

बरसों बीत गये लेकिन मेरी प्रेम-ज्योति ऐसी अचल रही—ऐसी बढ़ती गई जैसे मानो कोकिला अहर्निश मेरे साथ ही रहती हो। सब जगह देखता पर मुझे अपनी प्रियतमा का मुख कहीं नहीं दिखाई देता। पागल-सा रहता। कभी-कभी नदी-तट पर बैठकर दूर-दूर तक दृष्टि डालता। बदलते हुए बादलों के व्यूह में, समुद्र के गंभीर गर्जन में अपनी कोकिला का मुख देखता, उसका स्वर सुनता। अन्त में थककर आहें भरता हुआ रोते हृदय से घर आता। मेरा संसार तो सूना हो ही चुका था।

———

नारी-सुधारक सभा

मुझे पुरानी सेकिण्डहैण्ड और हस्तलिखित पुस्तकें इकट्ठी करने का बड़ा शौक है। ऐसी चीजों में अनोखा साहित्य मिल जाता है इसलिए पुराने प्रश्नों पर नया प्रकाश पड़ता है। बहुधा उनके हाशियों पर किसी अज्ञात हृदय के उद्‌गार उमड़ते दिखाई देते हैं। कभी-कभी पन्नों के बीच दबा हुआ सूखा गुलाब, काला केश अथवा पन्नों पर पड़े अश्रुबिन्दु, कुंकुम के छींटे या बीड़ी की राख देखकर किसी रसिक पाठक के जीवन की घटनाएँ आँखों के आगे खड़ी हो जाती हैं। ये अवशिष्ट चिह्न मेरी कल्पना को तीव्र बनाते हैं। मैं उनके ऊपर एक पुरातत्त्वज्ञ की भाँति जीवित इतिहास की इमारत खड़ी करता हूँ। अनेक बार इस इतिहास के पात्र मेरी कल्पना-सृष्टि में मित्र जैसा स्थान प्राप्त कर लेते हैं।

एक बार ऐसी पुस्तकों का एक टोकरा खरीदने पर मुझे एक नई और हस्तलिखित नोटबुक मिली। नई और हस्त-लिखित नोटबुक मुझे अच्छी नहीं लगती इसलिए मैं उसे पानी

गर्म करने के हम्माम में झोंकने जा रहा था कि मेरा ध्यान उस नोटबुक के पहले पन्ने पर गया । लिखा था—'गुर्जर-नारी-सभा की रिपोर्ट बुक।' पहले तो मुझे लगा कि गुजराती हिन्दू-स्त्री-मण्डल के उत्साही मंत्रियों ने आमदनी का नया जरिया ढूँढ़ निकालने पर यह नोटबुक मुझे सौंप दी है लेकिन मैंने फिर से नाम पढ़ा तो पाया कि वह गुर्जर-नारी-सुधारक सभा की रिपोर्ट बुक है।

मैंने आँखें मलीं। सुधारक ! कौन ऐसा माँ का जाया है जो स्त्रियों का सुधारक न हो पर इस कार्य के लिए एक पूरी-की-पूरी सभा लगे, यह मुझे विचित्र लगा। मैं पुस्तक पढ़ने बैठ गया और उसे तब छोड़ा जब कि पूरा पारायण कर गया।

इस पुस्तक को पढ़कर लगा कि यह सभा केवल उसके सदस्यों की ही है। साथ ही सदस्यों की निश्चित संख्या के अतिरिक्त दूसरों को सम्मिलित न करने का पक्का नियम भी पढ़ने को मिला। सभा के उद्देश्य निम्न लिखित थे—

"आप लोगों को मालूम होना चाहिए कि हम संस्थापक सदस्यों को इस बात का विश्वास हो गया है कि गुर्जर-नारी के सुधार, विकास और पोषण के लिए आवश्यक कदम नहीं उठाये जाते। हमें यह भी अनुभव हुआ है कि जब तक ऐसा नहीं होता तब तक गुजरात के आधे भाग में पक्षपात का आरंभ हुए विना न रहेगा। नीचे हस्ताक्षर करनेवाले हम संस्थापक सदस्य आज यदि इस सभा की स्थापना कर रहे हैं तो केवल इसी उद्देश्य से कि प्रत्येक संस्थापक सदस्य गुर्जर-नारी के गुण-दोषों का निरीक्षण और शास्त्रीय पद्धति

के अनुकूल चर्चा करके उनके विकास के लिए उचित कदम उठायेगा।"

अंग्रेजी दस्तावेजों से लिये गये वाक्यों में निहित उत्साह भी कुछ विचित्र जान पड़ा। एक नियम तो ऐसा था कि सभा की बैठकों में स्त्रियों को नहीं आने देना चाहिए। एक दूसरा नियम भी जानने योग्य था। वह था—"यदि कोई सदस्य किसी स्त्री के प्रति विशेष पक्षपात दिखायेगा या द्वेषवश उसके गुण-दोषों के विषय में चर्चा करेगा या करायेगा तो उसे सभा से बाहर निकाल दिया जायगा।"

कैसा असाधारण नियम है। ऐसा कौन सा मनुष्य है जो विना विशेष पक्षपात या उद्देश्य के स्त्री के गुण-दोष के विषय में चर्चा किये विना रह जाय। मेरे मन में संशय हुआ कि इस सभा के सब सदस्यों ने कहीं योगियों की स्थिति तो नहीं प्राप्त कर ली है।

सदस्यों का ब्योरा भी उसमें था परन्तु उसे देखकर ऐसा लगा कि सभा के नियमानुसार प्रत्येक सदस्य को कोई-न-कोई उपनाम रखना पड़ता था। इस कारण उस ब्योरे में मुझे नीचे के रंग-बिरंगे नाम मिले—"पुरुरुवा, हेमलेट, फूल्सहेड, डोन जुआॅन........।"

इसके बाद अनेक चर्चाओं और बैठकों की कार्यवाही थी लेकिन वह इतनी रोचक थी कि उसकी एक-एक बात पर एक-एक लेख लिखे विना काम नहीं चल सकता लेकिन सबसे ज्यादा आकर्षक तो वार्षिकोत्सव की रिपोर्ट थी। उस पर अधिक टीका-टिप्पणी किये विना ही मैं उसे पाठकों के समक्ष रखता

हूँ। यदि इसके पढ़ने में पाठकों को अपना वक्त व्यर्थ बरबाद हुआ जान पड़े तो मैं उनकी पात्रता के सम्बन्ध में कुछ लिखकर अपनी लेखनी को अपवित्र नहीं करूँगा।

रिपोर्ट

गत श्रावण बदी अष्टमी संवत् १९७८ को रात के ग्यारह बजे सभापति के यहाँ सभा की एक विशेष बैठक हुई थी, जिसमें समस्त सदस्य उपस्थित थे। सभापति महोदय ने सभा के कार्य-क्रम को चण्डी-पाठ के एक स्तोत्र द्वारा आरंभ करके निम्न लिखित भाषण दिया—

"नारी-सुधार-सभा के सदस्यो! आज हमारी सभा का वार्षिकोत्सव है। गोपीजन-वल्लभ की गत जन्म-तिथि पर स्थापित हमारी इस सभा को कार्य करते आज एक वर्ष पूरा हो गया। इस समय मैं नारी-सुधार के कुशल कार्यकर्ता भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म-दिन उचित रीति से मनाने के लिए आपमें से प्रत्येक सदस्य का वास्तविक मत इस कठिन प्रश्न पर जानना चाहता हूँ कि आपमें से प्रत्येक सदस्य 'किस प्रकार की स्त्री को अर्घ्य देगा?' मुझे आशा है कि आप इस कार्य को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करेंगे। अधिक समय नष्ट न करके मैं भाई पुरुरवा से निवेदन करता हूँ कि वे अपना मत प्रकट करें।"

तालियों की गड़गड़ाहट के बीच भाई पुरुरवा खड़े हुए, जरा खाँसे, अपनी गोल पगड़ी दबाकर सर पर रखी और नीचे का लेख पढ़ा—

"सभापति महोदय और सदस्यगण! मैं किस प्रकार की

स्त्री को अर्घ्य देता हूँ, यह प्रश्न बड़ा कठिन है। मैंने दिन-रात इस प्रश्न पर विचार किया है और अब मुझे लगता है कि मैं एक दृढ़ निश्चय पर आ गया हूँ अतः मुझे अपना मत प्रकट करते हुए तनिक भी संकोच नहीं।

"जिस स्त्री को मैं अपने अन्तर का अर्घ्य देता हूँ वह सत्तर वर्ष की है, (हँसी) बालविधवा है, शरीर से सशक्त है और स्वभाव से उग्र है। (तालियाँ) वह सगे-सम्बन्धियों को कँपाती है, पड़ोस को दहलाती है, जाति और गाँव को त्रस्त रखती है। उसे किसी की परवाह नहीं, किसी का डर नहीं। किसी से प्रेम नहीं, किसी की लाज-शरम नहीं। वह किसी के सुख से सुखी नहीं होती, किसी के सन्तोष से प्रसन्न नहीं होती, किसी की कीर्ति से चकित नहीं होती। उसे अपने सुख की परवाह नहीं, दुख उसे स्पर्श नहीं करता। उसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य सबको दुखी करना है।

"उस स्त्री का अनेक कलाओं पर अधिकार है। वह अनेक प्रकार से रो सकती है। वह वृद्ध से लेकर कल जन्मे हुए बालक की मृत्यु तक पर अनुकूल ढंग से छाती कूट सकती है। प्रसंगानुसार शोक का गीत भी गा सकती है। वह विभिन्न सम्बन्धों के अनुसार गालि-प्रदान कर सकती है। वह अनेक प्रकार का भोजन बना सकती है और हरएक दावत—विशेषकर विवाहादि की दावत पर सर्वाङ्गपूर्ण और चुटीली आलोचना कर सकती है। वह गहने-कपड़ों में मामूली-से-मामूली दोष निकालकर उनका वर्णन कर सकती है।

"स्वयं विधवा है फिर भी हरएक विधवा में दोष देखती

है। हरएक गृहस्थाश्रमी स्त्री को कुलटा मानती है और हरएक बालिका को पत्थर के स्थान पर अवतरित हुई मानती है।

"यदि कोई दुखी हो तो वह उस दुखी पर दुख की वर्षा करने में ही अपनी शोभा समझती है और यदि कोई सुखी हो तो उसे दुखी करना ही वह अपना कर्तव्य समझती है। यदि कोई शांति से बैठे तो वह उसे लड़ा सकती है। जो लड़े, उनमें सदा को फाँटें पाड़ सकती है। उसने अनेक लोगों को रुलाया है, उनके घर बिगाड़े हैं, उनके भोज को बरबाद किया है, उनके विवाह में आग लगाई है। कोई स्त्री पढ़े, टेढ़ी माँग काढ़े, अच्छे कपड़े पहने, गीत गावे, पति को पत्र लिखे या सास की सेवा करे, घर देखकर चले या किसी पुरुष से बातें करे तो वह खिल उठती है और अपराधी के पलस्तर बखेर देती है। पुरुष भेंट न दें, चौथी बार विवाह करने से इनकार करें, झंगा-पगड़ी न पहनें, अपनी स्त्री के साथ बाहर निकलें या माँ के साथ मिलकर रहें तो वह आग-बबूला हो जाती है और अपराधी को दण्ड देने लगती है। और यह सब करने में उसे कठिनाई नहीं होती। जैसे जल भिगोता है और चन्द्रिका अमृत-वर्षा करती है वैसे ही स्वाभाविकता से यह नारीरत्न उन प्रयोगों को चतुर्दिक् कर सकती है। इसके लिए उसे केवल एक ही शस्त्र की जरूरत पड़ती है और वह है उसकी जीभ। उसमें विष स्विफ्ट[१] जैसा है, शक्ति सुरेन्द्रनाथ जैसी है और चपलता एनीबेसेंट जैसी है।

१—अंग्रेजी लेखक।

उसकी जीभ थकती नहीं, उसकी विविधता घटती नहीं, उसका विष कम नहीं होता। (तालियाँ) जिस व्यवस्था को बनाये रखने के लिए सरकार करोड़ों रुपया खर्च करती है उसे यह जागरूक स्त्री बिना किसी खर्च के सिर्फ अपनी जीभ से चला सकती है।

"मैं उसे अर्घ्य देता हूँ। वह हमारे प्राचीन और पुनीत समाज की आधार है, हमारी पवित्र और पुरातन प्रथाओं की रक्षिका है। वह न हो तो समाज की व्यवस्था भंग हो जाय, अराजकता फैल जाय, सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय, स्त्रियाँ बिगड़ जायँ, पुरुष निरंकुश हो जायँ। वह न होती तो हम भ्रष्ट हो गये होते, ईसाई हो गये होते। उसके बिना समाज नेस्त-नाबूद हो गया होता, धर्म का लोप हो गया होता, संस्कृति का नाम-निशान भी न होता। (तालियाँ)

"हमारा सौभाग्य है कि संसार में ऐसी एक नहीं, अनेक स्त्रियाँ हैं। ऐसी साध्वी किस कुटुम्ब के हिस्से में नहीं पड़ीं? किस जाति को नहीं मिलीं? किस गाँव की शोभा नहीं बढ़ातीं?

"शेषनाग के समान समाजधारिणी, जगज्जननी के समान परोपकारिणी, कालिका के समान प्रतापी और श्रीकृष्ण के समान निष्काम कर्मयोग की साधना करनेवाली ऐसी स्त्री को मैं अपने अन्तर का अर्घ्य देता हूँ। आशा है कि आप सब लोग भी ऐसा ही करेंगे।" (तालियाँ)

सभा में सन्नाटा छा गया। कुछ समय तक सब लोग भाई श्री पुरुरवा द्वारा किये गये स्त्री के वर्णन को हृदय में धारण किये रहे। आखिर सभापति ने उठकर भाई श्री हेमलेट

को अपना मन्तव्य पढ़कर सुनाने की सूचना दी। भाई श्री हेमलेट ने अपना लेख निकालकर पढ़ना आरम्भ किया—

"सभापति महोदय और सदस्यगण ! 'मैं कैसी स्त्री को अर्घ्य देता हूँ', इस विषय पर मैंने पूरे वर्ष विचार किया। मैं अनेक गाँवों में घूमा और मैंने अनेक स्त्रियों को देखा लेकिन इस कार्य जैसा कठिन कार्य दूसरा न लगा। अर्घ्यार्ह स्त्री खोज निकालने जैसे भागीरथ काम के सामने बालू में से तेल निकालना या दूध से पानी को अलग करना—और खरगोश के सींग खोजना भी—मामूली बात है। अपने द्वारा की गई खोज का विवरण मैं कैसे दूँ ? मैंने गरीबों की झोंपड़ियाँ देखीं और अमीरों के महल देखे, मैंने शहर ढूँढ़े और गाँवों की खाक छानी, शिक्षित परिवारों में घूमा और अशिक्षितों की स्त्रियों से मिला और देखा कि कोई स्त्री छिछली है तो कोई ढोंगी, कोई हरामखोर है तो कोई फूहड़, किसी का मिजाज ठिकाने नहीं तो किसी के अभिमान की सीमा नहीं, कोई जीवन बितावे घर फूँकने में तो कोई बाजार भर को खरीद लाने में, कोई कृतघ्नी तो कोई कुरूप, कोई दंभी तो कोई हृदयहीन, जहाँ जवानी वहाँ रस नहीं, जहाँ रसज्ञता वहाँ मोहिनी नहीं, जहाँ चमक वहाँ कोमलता नहीं, जहाँ आर्द्रता वहाँ अक्ल नहीं। ऐसी दशा में मेरे जैसे खराब स्वभाव के मनुष्य को अर्घ्य देने लायक स्त्री कहाँ से मिल सकती है ? परन्तु आखिर मैं अपनी खोज में सफल हुआ और मुझे एक अर्घ्यार्ह स्त्री मिली।

"वह फूल की कली के समान सुकुमार है। उसके गाल

पर गुलाब के फूल की कोमलता है। उसकी आँखों की निर्दोष गहराई में आकाश का गांभीर्य है। उसके हास्य में पक्षियों का उल्लास-गान है। वह चलती नहीं, बाल-हरिणी-सी थिरकती है। वह बोलती नहीं, कूकती है।

"सदस्यगण ! वह आठ वष की है। जिस समय मैंने उसे देखा उस समय वह एक दस वर्ष के लड़के के साथ खेल रही थी। उन दोनों की आत्माएँ परिणीत हुई जान पड़ती थीं। उनके व्यवहार में स्थूल देह के विलास की लिप्सा न थी, स्वार्थ-साधन की इच्छा न थी। वे दोनों पास-पास उगे दो पुष्पों की भाँति एक दूसरे पर झुके हुए थे।

"उस लड़के की आँखों में उसकी आँखें हँसती थीं। उस हँसी में किसी को लुभाने का उद्देश्य नहीं था। प्राणि-शास्त्र के सिद्धान्तों का अनुकरण न था। देखनेवाले क्या कहते हैं, इसकी परवाह न थी।

"उसकी स्वच्छन्दता वायु की लहरों के समान थी, उसका उल्लास उड़ते हुए पक्षी के समान था, उसकी चमक पानी की लहरों पर तैरती चन्द्रिका के समान थी। उसे उस क्षण के जीवन में ही रस था। उसे पल भर की मौज में ही मुक्ति दिखाई देती थी। उसका शरमाना अपूर्व था। उसमें न तो देखनेवाले को वश में करने की भावना थी और न क्षोभ को दबाने की इच्छा। जैसी वह हँसती थी वैसी ही शरमाती थी।

"युवती का आडम्बर, मुग्धा का ढोंग, प्रौढ़ा की हराम-खोरी और वृद्धा की नीरसता ने उसका स्पर्श नहीं किया था,

वधूपन का हास-विलास उसे मालूम नहीं था, माता-पद के विकार का उसने अनुभव नहीं किया था। संसार में पुरुष को वश में करने के लिए उसने शृंखला का स्वरूप अख्त्यार नहीं किया था। आसपास के पाप और दुःख उसे दिखाई नहीं देते थे। पुरुषों की नीचता और स्त्रियों की क्षुद्रता उसने समझी नहीं थी। वह संसार में कल्लोल करती फिरती थी और जहाँ वह जाती थी वहाँ पुष्पों का पराग बिछ जाता था।

"मुझे उस बालिका की निर्दोषता में समस्त सृष्टि का सत्त्व समाया हुआ जान पड़ा। उसकी कूक में स्वर्गलोक की आशा के समान मिठास सुनाई दी।

"मैं उसे स्तब्ध बनकर देखता रहा और मैंने उस अपूर्व तथा अविकसित आत्मा के अनियंत्रित आनन्द की अनुभविका को अपने अन्तर का अर्घ्य दिया।"

भाई श्री हैमलेट के भाषण में लीन सदस्यों को ताली बजाने का भान नहीं रहा। क्षण भर के लिए स्तब्धता छा गई। दूसरे ही क्षण जब भाषण का जादू कम हुआ तब सभा ने तालियों की गड़गड़ाहट द्वारा इस भाषण की प्रशंसा की।

इसके बाद भाई श्री डोन जुआॅन खड़े हुए—

"सभापति महोदय और मेरे स्त्री-दीवाने साथियो! मैं आपके सामने एक गत युग की अर्घ्यार्ह स्त्री का वर्णन करने की आज्ञा चाहता हूँ।

"वह वृद्ध है। एक ऊँचे खानदान के लम्बे-चौड़े परिवार को जन्म देनेवाली है। अनेक कुटुम्बों की मददगार और

सलाहकार है और गौरव की अवतार है। गौरव—अभिमान का या अस्पश्यता का नहीं प्रत्युत चतुराई का, विवेक का—स्नेहभीना और विना कठोरता का, एक-एक कार्य में स्वमान और अरमान दोनों झलकें, ऐसा अवर्णनीय गौरव। उसकी स्नेहालुता अनुपम है। उसमें भावुकता का उफान नहीं, विवेक की शांति और शुद्धता है। अनजान मिलनेवाले को वह पल भर में घर जैसा अनुभव करा सकती है। लाड़ला लड़का भी उससे अनुचित लाभ नहीं उठा सकता।

"उसकी जीवन-प्रणाली सचोट, व्यावहारिक और तर्क-बुद्धि पर रचित है। वह अपने और दूसरों के सब कार्यों को प्रसन्नता, गहरी दृष्टि, व्यावहारिक बुद्धि और विशाल अनुभव से प्राप्त ज्ञान द्वारा करती है। हिन्दू-जीवन का कोई ऐसा प्रसंग नहीं जिसकी कि जानकारी उसे न हो। घर में एक-एक चीज पर उसकी नजर रहती है। भविष्य में किस समय क्या चाहिए, किस लड़की को किसकी जरूरत पड़ेगी और किस रिश्तेदार को क्या वस्तु देना शोभास्पद होगा—ये सब बातें उसे तुरन्त सूझ जाती हैं और इन्हें वह दूसरों को भी सुझा सकती है।

"दस वर्ष पहले जब उसके यहाँ गरीबी थी तब से लेकर जब उसके यहाँ पैसे की आमद हुई तब तक का उसने ठीक-ठीक हिसाब रखा है। वह प्रतिदिन रोजनामचा लिखती है, प्रतिमास खाताबही खतती है, हर वर्ष पिछले वर्षों के हिसाब की तुलना करती है। पन्द्रह रुपये महीने में भी उसने जिस सुन्दरता और शान के साथ घर चलाया था उसी प्रकार

५००० रुपये महीने में भी चला सकती है। उसके प्रताप से हरएक चीज का जितना सम्भव है उतना उपयोग होता है, हर तरह किफायत होती है, हर तरह का व्यर्थ का खर्च बन्द होता है। उसकी व्यावहारिक बुद्धि अटपटे कार्यों से नहीं डरती। मिल्कियत की व्यवस्था, जमीन की देखभाल और व्यापारियों का हिसाब-किताब वह बिना कारिंदे की मदद के कर सकती है। कुटुम्ब पर अदालती या दरबारी आफत आने पर सुयोग्य मुकदमेबाज की सी चतुराई से दस्तावेज इकट्ठे करती है, गवाह तैयार करती है, वकीलों को पूरी जानकारी देती है।

"हिन्दू-स्त्री के उदात्त जीवन के एक भी क्षेत्र को उसने अछूता नहीं छोड़ा। कागज गलाकर डलिया बनाई हैं, भाँति-भाँति के पकवान बनाये हैं, स्वयं सुनार के सर पर बैठकर गहने गढ़ाये हैं, नजर के सामने घर बनवाया है।

"साथ ही वर्षों पहले उसने आधुनिक नारी की कलाओं को भी सीख लिया है। वह पढ़ सकती है, गा सकती है और भजन बना सकती है। तीस वर्ष पहले उसने थोड़ी सी अंग्रेजी सीखी और स्वाभाविक बुद्धि से चित्र बनाना शुरू किया। वह गुजराती कवियों, पुराणों और कथाओं, योगवाशिष्ठ और गीता, आधुनिक उपन्यास तथा वर्तमान साहित्य को रस लेकर पढ़ सकती है। उसने पारमार्थिक जीवन स्वीकार नहीं किया परन्तु उसके सम्बन्धियों में शायद ही कोई ऐसा हो, जिसे उसने मदद न दी हो। बहुतों का संसार उसकी सलाह से चलता है, कितनों के ही घर के काम-काज उसकी

देखरेख में होते हैं। उसे देशी और विदेशी इलाज की सामान्य जानकारी है, इसलिए उसकी सेवा-सुश्रूषा के फलस्वरूप कितने ही जीव यमलोक का आतिथ्य स्वीकार करने से रह गये हैं।

"वह लड़के-लड़कियों में बचपन से हर प्रकार की अच्छी आदतें डाल सकती है और बड़े लड़कों के जीवन-विकास में मदद भी दे सकती है। आये हुए संकट का उसने मुकाबिला किया है, पड़ी हुई विपत्तियों को सहा है। इस उम्र में भी वह जीवन में रस लेकर बात कर सकती है और नवयुवतियों को रसिकता तथा दुखियों को वैराग्य का पाठ पढ़ा सकती है। यद्यपि इस उम्र में उस पर गौरव की तहें जम गई हैं तथापि उसकी मृदुता पूर्ववत् बनी है और पवित्र हृदय के उद्‌गारों का स्पर्श होते ही वह अश्रुधारा बहा सकती है।

"सज्जनो, इस वर्णन में अतिशयोक्ति नहीं। आज की तितलियों से ही जिन्होंने स्त्री-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया है उनको यह चित्र काल्पनिक लगेगा। ठीक भी है क्योंकि जैसे-जैसे अज्ञान और छिछोरेपन की वृद्धि होती जाती है तथा मौज और शौक में स्त्रियों का जीवन बीतता जाता है वैसे-वैसे यदि कल्पना-सृष्टि के बाहर ऐसे नमूने न मिलें तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

"गत युग की अवशेष रूप यह अप्रतिम नारी अपनी आजकल की बहनों को हत-प्रभ और लज्जित कर देती है। इसीलिए मैं उसे अपने अन्तर का अर्घ्य देता हूँ।"

तत्पश्चात् भाई श्री दुष्यन्त ने खड़े होकर सभा के समक्ष अपना वक्तव्य रखा—

''सभापति महोदय और सदस्यगण ! इस कलिकाल में, इस स्वच्छन्दता के युग में मुझे अर्घ्य देने योग्य स्त्री केवल एक ही लगती है।

"वह पतिपरायणता की मूर्ति है। बाल्यावस्था को छोड़ने के बाद उसने पति के अतिरिक्त किसी दूसरे की चिंता नहीं की। उसे किसी और व्यक्ति में रुचि नहीं रही। वह दूसरे के दृष्टिकोण को नहीं देख सकी। पति की उपेक्षा पर भी उसने असन्तोष की एक साँस नहीं ली। पति उसके ऊपर भले ही नाराज रहा हो पर उसने स्वयं नाराज होने का अवसर नहीं दिया। वह कितनी ही बार पति के विचारों को न जान पाती पर फिर भी उसको मलाल न होता। वह मात्र पति-भक्ति में ही लीन रहती और पतिसेवा में ही प्रसन्नता अनुभव करती। पति को आज्ञा देने का अवकाश ही न मिलता क्योंकि उसके आज्ञा देने से पहले ही वह उसकी इच्छा को जानकर तदनुकूल अपने विचारों और आचरण को बदल डालती। किसी ने यह नहीं सुना कि कभी उसके और उसके पति के बीच मतभेद, विरोध या झगड़ा हुआ हो। लोगों को और घर के आदमियों को उसके व्यक्तित्व की प्रखरता दिखाई देती पर जैसे ही वह पति के निकट पहुँचती कि वह स्वयं विना किसी प्रकार के प्रयत्न या विना किसी प्रकार के दुख के अदृष्ट हो जाती। पति बहुत चाहता कि वह स्त्री एक बार उसकी आज्ञा न माने, एक वक्त उसके निश्चय के अनुसार काम न करे, एक बार सर ऊपर उठाकर देखे पर बेचारे की इच्छा पूरी न होती। उचित समय पर वह उप-

स्थित रहती और उचित काम करती। पति के सामने उसका स्वतंत्र अभिप्राय कभी खोजने पर भी न मिलता। पति के साथ उसने कभी मनस्वी का सा व्यवहार नहीं किया। न तो वह पति की कभी शिकायत करती और न उसकी सेवा से विरत होती।

"पति देवता जब रीझे तब भी वह फूली नहीं। पति की स्थिति सुधरी तो भी उसने सिरोपाव की आशा नहीं की। लड़के हुए पर उनको उसने पति से प्यारा नहीं समझा। पति कभी बीमार पड़े तो वह उसे नर्मदा की भाँति सर पर लेकर निकले विना न रहे। यदि पति वैराग्य धारण करे तो वह भस्म रमाकर संसारत्याग का उपक्रम करे और यदि वह पुरुरवा की भाँति किसी उर्वशी के पीछे पागल हो तो वह चान्द्रायणव्रत करके उसकी विजय-कामना करने में भी पीछे न रहे।

"इस लालसा, असन्तोष, स्वच्छन्दता और स्वातन्त्र्य के युग में इस स्त्री ने आर्य सतियों को शोभा देनेवाले तादात्म्य की साधना की है। वह इस युग की नहीं। ऐसा लगता है मानो वह हमारे गौरवमय अतीत काल से उतरकर आई हो। मैं उसे ही अर्घ्यार्ह समझता हूँ।"

उसके पश्चात् भाई श्री जयंत ने खड़े होकर अपना भाषण पढ़ना शुरू किया—

"प्रेसीडेण्ट साहब और महानुभाव! इतनी देर से मैं भिन्न-भिन्न प्रकार के भाषण सुन रहा हूँ। उनमें आप लोगों ने जिस जिस प्रकार की स्त्रियों को वर्णन किये हैं उनमें

देखकर मुझे आप लोगों की मनोदशा पर संताप होता है और मैं यह कहे विना नहीं रह सकता कि आप सब लोगों ने सच्ची दृष्टि खो दी है।

"जीवन को गंभीर दृष्टि से देखने से बढ़कर पागलपन मैंने दूसरा नहीं देखा। गांभीर्य का प्रसार होगा तो फिर दुनिया का क्या होगा? इस पागलपन का चतुर्दिक् प्रसार देखकर मुझे जनता के प्रति घृणा होती है। सज्जनो! यह संसार मिथ्या और मायाजाल है। ईश्वर है या नहीं, इसका निर्णय हो नहीं पाया। आत्मा के अस्तित्व में उतना ही सत्य है जितना कि मृगतृष्णा में। पुरुष और स्त्री मात्र बुद्बुद हैं।

"ऐसी स्थिति में बुद्बुद जितना बड़ा हो उतना ही अधिक श्रेयस्कर है। जो मनुष्य झूठ में झूठ मिला दे उसे ही माया के रहस्य का ज्ञाता समझना चाहिए। आप लोग सत्य या संस्कार या सहनशीलता खोजते फिरते हैं। मायामय जगत् के बुद्बुद-रूप मेरे मित्रो! क्या असत्य में सत्य देखकर आपको कपकपी नहीं आती? मायामय जगत् में शाश्वत की खोज करके रस में विष क्यों घोलते हो?

"जरा विचार तो करो। यदि ऐसी ही स्त्रियाँ हों, जैसा कि आप लोग कहते हैं, तो इस पृथ्वी पर रहना मुश्किल हो जाय।

"अर्घ्यार्ह स्त्री तो वही है जो इस जगत् के साथ तादात्म्य स्थापित करके रह रही हो। वह झूठ की अवतार है। वह ऐसी है कि उसकी उम्र पच्चीस और पैंतालीस के बीच

निश्चित नहीं की जा सकती। अपने सर के केशकलाप से लेकर अपने पैरों के तीन इंच ऊँची एड़ी के बूटों तक वह ढोंगी है। बाल उसके अपने हैं या नकली? आँखों की चमक उसकी है या सुरमा की? दाँतों की रेखाएँ उसकी अपनी हड्डियों की हैं या दूसरों की? उसका मोहक रंग उसका है या पाउडर का? सज्जनो! इस विषय में संशय करने की गुंजायश नहीं। ये सभी चीजें किराये की हैं।

"उसने अपने-पराये का भेद नहीं किया। वह हरएक के पैसे को अपना मानती है। हरएक के आमोद-प्रमोद में भाग लेने के अपने अधिकार के विषय में उसे संशय नहीं है। लोकलाज और मर्यादा को उसने जन्म से ही नहीं जाना।

"इस स्त्री की कितनी ही बातें बड़ी आकर्षक हैं। वह अदा के साथ सफेद झूठ बोल सकती है। वचन देती है तो केवल भंग करने के लिए। नमकहलाली का नाम सुनते ही उसे हँसी आती है। सदा एक ही आदमी के साथ उबा देनेवाला सम्बन्ध रखना उसे पल भर के लिए गवारा नहीं। उसके जीवन में तितली के विविध रंगों की छटा है लेकिन एक रंग एक से अधिक बार दिखाई नहीं देता।

"उसकी बातचीत कैसी मोहक है। वह बादल, चाय की तेजी और अपने आभूषणों के सम्बन्ध में दो-चार उल्टी-सीधी बातें बड़ी धृष्टता से कह सकती है। पर वह एक बात पर एक मिनट से ज्यादा नहीं ठहर सकती। गंभीर विषयों से उसका दम घुटता है, कविता और भावना को वह घृणा की दृष्टि से देखती है। बुद्धिमत्ता तो उसे बिलकुल ही नापसंद

नहीं है। उसकी आवाज की विविधता कृत्रिम है। उसमें जो भावनाशीलता दिखाई देती है वह भी थोथी है। भावुकता उसके लिए अक्षम्य अपराध है। उत्साह और प्रेम को वह अधोगति का चिह्न समझती है। पुरुष उसके लिए खिलौने हैं और वह चाहती है कि उसे भी लोग खिलौना ही समझें। उसकी उपस्थिति में हमें जगत् के मोहक मिथ्यापन का भान होता है और जीवन में गंभीर बने रहने की निरर्थकता स्पष्ट समझ में आ जाती है।

"यह रसमयी सुन्दरी कलाविधायक है। जीवन में असत्य का आचरण करने की उसकी कला गांधीजी के सत्य के आचरण की कला से भी बढ़ी-चढ़ी है। उसका असत्य भी गांधीजी के सत्य के समान ऊपर तर आता है। सत्य के पीछे मारे-मारे फिरनेवाले इस संसार के रेगिस्तान में मैंने यही एकमात्र हरी-भरी लता देखी है और हे सज्जनो! मैं उसी को अपना अर्घ्य देता हूँ।"

तदनन्तर भाई श्री चन्द्रापीड़ ने सभापति की आज्ञा से अपना अभिप्राय प्रकट किया—

"सदस्यगण! ऐसा लगता है कि स्त्रियों के परिचय और उनके चरित्र के निरीक्षण में व्यर्थ समय बरबाद हुआ हो। उनके स्वभाव की चपलता, उनके चरित्र की कमजोरी, उनके अन्तर का अनगढ़पन मुझे इतना सालते हैं कि मैं उनके सम्पर्क के दुर्भाग्य को सहन नहीं कर सकता। फिर भी मुझे उन सबमें एक स्त्री अपवाद-रूप मिली और मैंने उसी को अर्घ्य देना आरंभ किया।

"वह देवी के समान सुन्दर और तेजस्वी है। वह आती है, बड़े नखरे के साथ, अपने नाजुक शरीर को जरा लचकाती हुई और अपने नेत्रों की चमक से समस्त खण्ड को प्रकाशित करती हुई। उसका तेजस्वी रूप सबकी दृष्टि को आकर्षित करता है, उसका सलज्ज व्यवहार सबके मन में आदर भाव पैदा करता है।

"वह हरएक विषय पर ऐसे बात करती है, ऐसे सवाल पूछती है जैसे वह उसमें रुचि रखती हो, उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहती हो। उसकी धीमी आवाज लोगों पर मोहिनी डालती है। उससे दस मिनट बात करने के बाद ही मिलनेवाला उसकी इतनी अधिक चतुरता, गौरव, हाव-भाव और नम्रता को देखकर असमंजस में पड़ जाता है और यह नहीं सोच पाता कि उसकी प्रशंसा करे या उसका आदर करे या उससे आशीर्वाद माँगे।

"लेकिन मिलनेवाले को इसका भान ही नहीं होता कि यह नम्रता, यह लजाना और यह जिज्ञासा मात्र साधन रूप है। उसके पीछे छिपी भयंकर और तीक्ष्ण बुद्धि मिलने आनेवाले का मूल्यांकन करती है। निश्चल स्वास्थ्य उसकी दुर्बलता की खोज करता है और प्रचण्ड इच्छाशक्ति इस बात का निर्णय करती है कि अपने जीवन-क्रम में वह कहाँ रखे जाने पर अधिकाधिक उपयोगी हो सकता है।

"बेचारे आनेवाले का कुछ होना जाना नहीं। सुशीलता उसे झुका देगी, मिठास उसकी शान को धूल में मिला देगी और आतिथ्य उसके होश-हवास गुम कर देगा। यदि इन

सबसे भी वह इस भाग्य-विधात्री के जाल में न फँसा तो भी वह किसी प्रकार नहीं बच सकता ; क्योंकि उसके चरित्र, उसकी शक्ति और उसकी बुद्धि के एक-एक विभाग को सरस न्याय मिलना आरंभ हो जायगा। और आसपास के सगे-सम्बन्धी उस बेचारे के चारों ओर इस बाजीगरिनी की इच्छा के अनुसार वातावरण तैयार करने में लग जायँगे। कुछ नहीं होगा तो वह किसी विचित्र मामले में उससे मदद माँगकर उसकी स्त्री-संरक्षक वृत्ति को उत्तेजित कर देगी। तात्पर्य यह कि बेचारे को विना उसकी शरण में जाये छुटकारा नहीं मिलेगा।

"इस सबका उद्देश्य इतना गंभीर है कि उसे समझने में दो वर्ष तो सहज ही लग सकते हैं। वह दृढ़ पातिव्रतधारिणी है, वह पैसे-टके की दृष्टि से सुखी है, उसे आमोद-प्रमोद बहुत प्रिय नहीं। उसे केवल सत्ता का ही व्यसन है। उसी के लिए वह जीती है। अपने प्रशंसकों और अनुचरों का दल बढ़ाना ही उसका ध्येय है।

"इस ध्येय की पूर्ति के लिए वह भागीरथ श्रम कर सकती है और श्रम भी ऐसी स्वस्थता, ऐसी दूरदर्शिता और ऐसी निष्ठा से करती है कि क्षणिक विजय मिलने में उसे देर नहीं लगती। कभी-कभी जब उसका जी बेचैन होता है, हृदय क्रोधाभिभूत होता है या प्रयत्न विफल होता है तब उसके शान्त स्वरूप के नीचे धधकती भयंकर अग्नि-ज्वालाओं का क्षणिक दर्शन होता है। लेकिन दूसरे ही क्षण उसका स्वरूप बदल जाता है—वह शांत और सौम्य बन जाती है।

"उसके स्वजनों और मित्रों का मण्डल—जहाँ तक उसका मण्डल कहा जा सके वहाँ तक—उसी के आसपास फिरता है और इस मण्डल के प्रति वह अद्भुत ममत्व प्रदर्शित कर सकती है। परन्तु उसके मुख के भाव ऐसे बदलते हैं जैसे कि बादल के रंग और कभी-कभी तो उसकी बुद्धि का तीखापन बुद्धिशाली को भी चौंका देता है। उसकी चालों और दाँवपेंचों का पार कोई नहीं पा सका। आवश्यकता पड़ने पर वह ईश्वर द्वारा प्रेरित अवतार की-सी वाक्पटुता से बोल सकती है और अवसर आने पर विषबुझे वाक्य-बाणों से हृदय को दग्ध कर सकती है। यदि वह ईसा की पहली शताब्दी में मिस्र में होती तो बेचारे ऐंट के तीनों लोकों के साम्राज्य को धूल में मिला देती, जहाँगीर के दरबार में होती तो बेचारी नूरजहाँ के भाग्य में से सम्राज्ञी-पद को छीन लेती, विलायत में होती तो एक ही भ्रूभंग में पार्लियामेंटों को विसर्जित करा देती। बीसवीं सदी के गुजरात में वह सुशील और प्रतिष्ठित गृहिणी बनकर अमर इतिहास में नाम लिखाने की आकांक्षा छोड़ बैठी है।

"उसे ही मैं अपने अन्तर का अर्घ्य देता हूँ।"

इसके बाद भाई श्री चारुदत्त ने अपना लेख पढ़कर सुनाया—

"सभापति महोदय! अपने मित्रों द्वारा इस प्रकार हरएक प्रकार की स्त्रियों को अर्घ्य देते देख मुझे खेद होता है। इस दुःखमय संसार में, जहाँ सहनशीलता श्रेयस्कर है, यदि किसी को अर्घ्य दिया जा सकता है तो केवल उसी को

जिसने रोते-रोते जीवन बिताया हो और ईसा की भाँति जीतेजी सूली को गले लगाया हो।

"मैंने ऐसी एक स्त्री देखी थी। बाल्यावस्था में ही विधवा हो जाने से उसको सेवा तथा सहनशीलता के व्रत के पालन करने का अधिकार प्राप्त हो गया था। वह निराधार थी। उसे सारे घर के लिए अनाज पीसना पड़ता था, कपड़े धोने पड़ते थे, खाना पकाना पड़ता था और नाते-रिश्तेदारों के बच्चों को रखना पड़ता था। उसको पेट भरकर खाने के लिए नहीं मिलता था और ऐसे ताने सुनने पड़ते थे कि जिनसे जी जल उठता था। उसे किसी के सुख, सौभाग्य या आनन्द में भाग लेने का अधिकार न था। कभी-कभी तो यह भी समझा जाता था कि यदि सारे गाँव के दुःख का कोई कारण है तो केवल वही है।

"इस प्रकार घोर दुःख सहते-सहते उसे वर्षों बीत गये। ऐसे-ऐसे अवसर भी आये जब कि देवता राक्षस बन गये पर फिर भी उसकी शांति भंग नहीं हुई, उसका धैर्य नहीं चुका, उसकी मृदुता में अन्तर नहीं आया, उसके विनोदी स्वभाव में कर्कशता का समावेश नहीं हुआ। वह हँसते-हँसते जीवन बिताती रही।

"उसका मृदु, म्लान और गंभीर हास्य सबके हृदय को पिघला देता। जिन्होंने पूज्यभाव का कभी नाम भी नहीं सुना था वे भी उसके साथ आदर का व्यवहार करने लगे और दुःख देनेवाले उससे कृतज्ञता के अज्ञात पाठ पढ़ने लगे।

"उसके शान्त रहने का कारण उसका एक लड़का था।

किसी ने यह नहीं जाना कि उसने कभी अपने और दूसरों के बच्चों में भेद किया हो। किसी ने यह नहीं सुना कि किसी समय अपने बच्चे के प्रति अन्याय होता देखकर उसकी आँखों में द्वेष या क्रोध झलके हों।

"लड़के की बहू आई पर उसने सास को सुख नहीं दिया। लेकिन इस आजन्म समर्पिणी ने अद्भुत कौशल से हँसते-हँसते उसका निर्वाह किया। मरते दम तक उसकी मिठास जैसी थी वैसी ही अमृतमय रही। अन्त तक उसने किसी पुरस्कार की आशा नहीं की।

"सहनशीलता की सिद्धि ही अन्त तक उसके जीवन का महामंत्र था। सेवाधर्म के कठिन व्रत का पालन करना ही उसके लिए मुक्ति था। दुःख से अधीर और व्याकुल इस संसार को शिक्षा और शांति देने के लिए अवतरित अवतार के समान वह मेरे स्मृति-मंदिर में सुशोभित है। उसे ही मैं अपना अर्घ्य देता हूँ।"

इसके बाद भाई श्री छैलछबीले ने अपने विचार पढ़ सुनाये—

"सभापति महोदय! स्त्रियों की भावना पुरुषों ने बिगाड़ दी है। जब स्त्री पुरुष की प्रतियोगिनी, सहचरी और मित्र होने के लिए बनी है तब उसे शरमाने की क्या जरूरत है? उसे पुरुष से अधिक मर्यादित और संस्कारी क्यों होना चाहिए? पुरुष जाति द्वारा बनाये गये स्वार्थपूर्ण नियमों ने स्त्रियों के स्वभाव को ऐसा विकृत कर डाला है कि चाहे जैसे उपाय क्यों न किये जायँ, इस स्वभाव का बदलना असंभव-सा

हो गया है। ऐसे विकार से मुक्त एक ही स्त्री मुझे मिली है और मैं उसे ही अर्घ्यार्ह समझता हूँ।

"वह शिक्षित है। वह विवाह करके सुखी है। उसके बच्चे हैं। उसे नाते-रिश्तेदारों का प्यार मिला है। इतना होने पर भी वह "टोम बॉय" (शैतान लड़के) की झलक दिखा सकती है। पुरुषों को रिझाने के लिए निर्धारित वस्त्र-परिधान-विधि की उसे चिन्ता नहीं। वह आकर्षक कपड़े पहनती नहीं, गहनों को छूती नहीं। सर ढकना ही चाहिए, ऐसे शिष्टाचार की वह सदा अवहेलना करती है!

"वह पुरुषों से बात करते नहीं झेंपती और न दिखावटी लज्जा का ढोंग करती है। वह पुरुषों के साथ स्नेहपूर्ण मैत्री रखने में कोई बुराई नहीं समझती।

"गृहिणीपद का आडम्बर करने में उसे प्रसन्नता नहीं। उसका घर संस्कार उत्पन्न करने का उष्मागृह नहीं, कालिज के लड़कों के बोर्डिंग का खण्ड-सा लगता है। एक कोने में बूटों का ढेर, एक खूँटी पर स्त्री-पुरुष के कपड़ों का संग्रह, लिखने की मेज पर चाय बनाने का स्टोव और रोटी बनाते-बनाते पढ़ने के लिए खुली पुस्तक उसके सिवाय गुजरात में और किसी घर में देखने को नहीं मिलती। कालिज छोड़ने के बाद ऐसी निर्दोष अध्ययनशीलता मैंने और कहीं नहीं देखी। अपने पति के साथ उसका सम्बन्ध भक्ति या संस्कारी स्नेहालुता का नहीं, प्रत्युत दो प्रतियोगियों या झगड़ालू मित्रों का सा है। पति के घर आने पर वह शिष्टाचार के नाते उसके हाल-चाल नहीं पूछती, प्रत्युत सवेरे जाते समय अधूरी

रह जानेवाली बात को ही फिर शुरू कर देती है। आवश्यकता पड़ने पर अपने पति को लड़के को लेकर चुप कराने की आज्ञा दे देती है। इतना होने पर भी उसने पति के साथ अभेद्य मैत्री स्थापित की है। उसके पति को शांति भले ही न मिलती हो पर सहचार तो मिल ही जाता है।

"इस स्त्री से अधिक पवित्र, प्रामाणिक और सच्चा मित्र मिलना असंभव है। वह मित्रों के साथ बातचीत में जातीय मित्रता पर आधारित स्त्री-पुरुष के बीच के अस्वाभाविक अन्तर को बाधक नहीं होने देती। उसे इस बात का खयाल ही नहीं आता कि संसार शताब्दियों से स्त्रियों के आचार-विचार के लिए पुरुषों के आचार-विचार से भिन्न नियम लागू करने का प्रयत्न करता आ रहा है। वह पुरुषों की दृष्टि से संसार को देख सकती है, वह सजातीय मित्र की भाँति सलाह दे सकती है। आश्वासन की आशा से मिलने आनेवाले मित्र को उससे नम्रता, मधुरता या प्रेरणा नहीं मिलती वरन् एक समझदार दुनियादार के सच्चे अनुभवों और तीक्ष्ण दृष्टि का लाभ मिलता है। उसकी व्यावहारिक शक्ति अद्भुत है, इसलिए वह शान्त और कृत्रिम चातुर्य को नहीं सह सकती। वह तुरन्त उठकर काम में लग जाती है, मुश्किलों को हटाती है और न सूझनेवाला मार्ग दिखाती है।

"आप उसके प्रति नारी-सम्मान की वृत्ति नहीं रख सकते क्योंकि वह निर्बलता या सुकुमारता नहीं दिखाती। आपसे वह दिखावटी आदर-सत्कार की आशा नहीं रखती

पर वह अपनी कला से आपसे वह सम्मान प्राप्त कर लेती है जो आप अपने बराबरवाले को देते हैं।

"साधारणतः पुरुष स्त्रियों से शांति और प्रेरणा चाहते हैं और जो स्त्रियाँ ये चीजें दे सकती हैं उनको वे अर्घ्य देते हैं। मेरे मत में शांति और प्रेरणा की इच्छा करना निर्बलता का सूचक है। सच्चे पुरुष को मित्र की आवश्यकता होती है और उस पद को ऐसी ही स्त्री ले सकती है। मैं उसे अपना अर्घ्य देता हूँ।"

फिर सभापति की आज्ञा से भाई श्री फूल्सहेड खड़े हुए और उन्होंने अपना भाषण पढ़कर सुनाया—

"जिस स्त्री को मैं अपना अर्घ्य देता हूँ वह नवीन गुजरात का अनोखा पुष्प है। वह अपनी परिस्थिति को छोड़कर कमल की भाँति ऊँची उठी हुई है। उसकी आह्लादजनक चाल-ढाल में नवयुग के संस्कार और स्वातंत्र्य दोनों का समावेश दिखाई देता है।

"वह युवती सुन्दर नहीं, रूपवती है। उसकी आँखें हर एक भाव से चमक सकती हैं। उसकी मीठी आवाज प्रत्येक भावना को व्यक्त कर सकती है। इसका निर्णय तो नहीं हो सकता कि उसकी हँसी में आकर्षण अधिक है या शोखी, लेकिन यह बात निर्विवाद है कि जिस समय वह हँसती है उस समय देखनेवाले का हृदय अपनी स्वाधीनता खो बैठता है। उसमें प्रत्येक कला को सीखने का उत्साह है। उसे दिन-रात यही धुन लगी रहती है कि तैरना, मोटर चलाना, घोड़े पर बैठना, टेनिस खेलना, चित्र बनाना, गाना, लेख लिखना

या भाषण देना एकदम सीख लूँ। उसने अच्छी शिक्षा पाई है और उसे और भी बढ़ाने का प्रयत्न वह करती रहती है।

"वह बड़े-बड़े लेखकों और महान् पुरुषों को समझने का प्रयत्न करती है और उन पर किसी के द्वारा किये गये विवेचन को समझ सकती है तथा थोड़ा बहुत स्वयं भी कर सकती है। उसे राजनीतिक मामलों की भी इतनी जानकारी है कि जिससे बातचीत में रस उत्पन्न किया जा सके। वह ऐसी छाप डाल सकती है कि किसी भी विषय पर दूसरों को बात करने को विवश कर सकती है और स्वयं भी कर सकती है।

"वह साहसी है। पुरानी प्रथाओं के तोड़ने में उसे मजा आता है। अफवाहें फैलाने में उसे रस मिलता है। पुरुषों की प्रवृत्ति और जीवन का निरीक्षण करने में उसे आनन्द आता है और वह उनके साथ समानता का व्यवहार करना चाहती है। इस भय से कि कहीं कोई पुरुष स्त्री-जाति पर चिरकाल से चला आता अपना अधिकार न जता दे वह शब्द-शब्द में अपनी स्वतंत्रता की झलक देती है।

"वह एक मोहक हलचल मचानेवाली है। उसके कोमल स्वभाव में उपद्रव मचाने का अस्पष्ट उत्साह छिपा है। उस उपद्रव में द्रौपदी का गौरव और शर्ली की रसज्ञता दोनों समा सकते हैं। बहुत से लोग इस उत्साह को घृणा की दृष्टि से देखते हैं परन्तु मुझे यह उसकी मोहकता का प्रथम लक्षण जान पड़ता है।

"उसकी आत्मा परम संस्कारी है। उसका [illegible] बातों

ओर फैलता है। उससे अशान्तों को शान्ति मिलती है, अनगढ़ लोगों का जीवन गढ़ा जाता है, संस्कारियों को सृष्टि में ममानता का विकास होता जान पड़ता है। उसकी उपस्थिति में ऐसा प्रतीत होता है जैसे हम संस्कृति के सोपान पर चढ़ गये हों।

"स्वतंत्रता और संस्कारिता का यह विलक्षण मिश्रण सामान्य जनों की समझ में नहीं आता। जो चीज समझ में न आवे, उसे दूषित मान लेना जड़ता-ग्रसित मस्तिष्कों का पहला सिद्धान्त है। इस स्त्री की संस्कारिता ही उसकी पवित्रता की जनक और संरक्षक है। उसे देखनेवाले को तुरन्त ऐसा भान होता है कि वह अंतिम श्वास तक संस्कारिता का प्रसार करती रहेगी।

"उसके साहस, बुद्धि, स्वातंत्र्य और संस्कार से आकर्षित होकर संस्कारी पुरुष उससे सहानुभूति और प्रेरणा की याचना करते हैं। उसकी एक-एक दृष्टि, एक-एक मुस्कान और एक-एक अभिवादन कार्यशील होने की प्रेरणा देते हैं तथा पुरुषत्व को कसौटी पर चढ़ाते हैं। उसकी प्ररणा पाये हुए पुरुषों के मस्तिष्क की स्थिति वास्तविक राजकुमारियों की स्थिति से प्रेरित योद्धाओं की मनोदशा का कुछ-कुछ आभास देती है।

"प्रेरणा के प्रवाह को वह रोक नहीं सकती, फिर भी किसी को प्रेरित करने की इच्छा नहीं रखती। इससे कहीं स्वातंत्र्य में कमी न हो जाय, यह भय उसे बराबर बना रहता है। प्रेरणा माँगनेवाले पुरुषों की ओर वह मदारी की दृष्टि से

देखती है। उसे ऐसा लगता है जैसे यह नये प्रकार का सिंह, यह नये प्रकार का चितकबरा बाघ और यह नई शक्तिवाला बन्दर—सब मेरी डुगडुगी की आवाज पर नाचते हैं। लेकिन डुगडुगी की आवाज से अपने आत्मसम्मान को नष्ट हुआ समझनेवाले पुरुष भाग जाते हैं और इससे उसकी कोमल आत्मा दुख पाती है।

"उस बेचारी को पता नहीं कि प्रेरणा के याचक प्रेरणामूर्ति की आराधना के लिए श्रम करते हैं, मदारी के लिए नहीं; वे उत्साह का मंत्र चाहते हैं, गुलामी नहीं।

"वह नवयुग की प्रतिमा जैसी अद्भुत प्रेरक शक्ति है। जैसे उसके अनुपम संस्कार हैं वैसी ही उसकी व्योम-विहारी आत्मा है। यदि वह किसी को सच्चे हृदय से प्रेरणा देने का संकल्प करे तो उसमें अनन्य प्रभाव और वीरता का प्रकाश कर सकती है, यदि वह साहित्यिक या राजनीतिक प्रवृत्ति को अपना धर्म समझे तो नये सम्प्रदाय की स्थापना कर सकती है और यदि उसकी संस्कारी आत्मा किसी दूसरी आत्मा के साथ निर्मल और अभेद्य सम्पर्क साधे तो पृथ्वी पर अमरावती को उतार सकती है।

"सदस्यगण ! इस चित्र में बहुत सी त्रुटियाँ हैं। त्रुटियाँ न हों तो मनुष्यजाति प्यारी कैसे लगे ? फिर भी मैं उस नव-युग की मनोहारिणी स्त्री को अपना अर्घ्य देता हूँ।"

तत्पश्चात् भाई श्री रसनिधि अपने चश्मे को साफ करके लेख पढ़ने को तत्पर हुए—

"श्रीमान् सभापति महोदय और सदस्यगण ! मेरे जैसा

विधान का अध्येता सभापति महोदय द्वारा पूछे गये प्रश्नों पर जल्दी में और उत्साहपूर्वक कोई निर्णय दे सके, यह संभव नहीं है। स्त्री सृष्टि-विकास का सबसे बड़ा साधन है और ऐसी उपयोगी शक्ति का निरीक्षण प्रत्येक दृष्टि से बड़ी ही अटपटी वस्तु है।

"प्रथम तो प्रकृति अमर होने के लिए स्त्री को सावधान करके उसके हाथ में संवनन और आकर्षण का शास्त्र देती है और उस शास्त्र द्वारा अपना संगी खोजकर वह जाति को अमर बनाने का उपक्रम करती है। मनुष्यजाति के विकास में स्त्री रक्षक शक्ति है, पुरुष संवर्द्धक शक्ति है। जाति की जन-संख्या स्त्रीजाति पर अवलम्बित है।

"जातियों में परस्पर भयंकर रस्साकशी चल रही है। जो जातियाँ सशक्त और प्रभावशाली होती हैं वे जीती हैं और पृथ्वी को प्रतापी और सुखी बनाने के लिए साधनभूत होती हैं। जब तक पृथ्वी पर निर्बलता और दुख व्याप्त हैं तब तक ऐसे उपाय काम में लाने चाहिएँ जिनसे कि सशक्त जातियों की वृद्धि हो। उसी प्रकार पृथ्वी से अशक्त जातियों का उन्मूलन करना चाहिए। जब तक निर्बल, रोगी, अविकसित या अल्पजीवी जातियाँ पृथ्वी का भार बनी रहेंगी तब तक संसार में सुख, शक्ति या सच्चा आनन्द दिखाई न देगा।

"जाति की रक्षा करने या विनाश करने का प्रथम साधन स्त्री है, यह मैं कह चुका हूँ। जिस सीमा तक स्त्री सशक्त जाति को अमर करती है या अशक्त जाति को विध्वंस करती है उसी सीमा तक विचार करना शास्त्रीय दृष्टि का कार्य नहीं है।

"अब हम पूजनीय या अर्घ्यार्ह स्त्री का निर्णय करेंगे।

"गुजराती जैसी निर्बल या अशक्त जाति पृथ्वी पर शायद ही कोई हो। हमारी औसत उम्र पूरे पच्चीस वर्ष की भी नहीं। हमारी औसत ऊँचाई पाँच फुट भी नहीं। हमारे यहाँ बालकों की मृत्यु का औसत २५ प्रतिशत है और रोगों का प्रचार अन्य सब देशों से अधिक है। हमारे युवकों में ८९ प्रतिशत दुर्बल, रोग-ग्रस्त और निर्जीव होते हैं। हमारी कार्य करने की शक्ति और सब लोगों से कम है, यह बात मैं अपने एक लेख में सिद्ध कर चुका हूँ। साथ ही जिन लोगों ने दूसरी जाति के नौकर रखे हैं, उनको भी यह विदित है। ऐसी शारीरिक दुर्बलता के परिणामस्वरूप हमारे देश में बुद्धि या चरित्र का विकास संभव नहीं। द्वेष, क्रोध, लोभ और धन-संचय की इच्छा का प्राबल्य चारों ओर बढ़ रहा है और इस जाति में अपूर्व पशु (Blonde Beast) का विकास असंभव हो गया है।

"इस कारण आप मेरे इस मत से सहमत होंगे कि हमारी यह अशक्त और दुर्बल जाति पृथ्वी से जितनी जल्दी निर्मूल हो जाय उतना ही विकास और उत्क्रांति के लिए शुभ है। जब तक ऐसी जाति की वृद्धि होने दी जायगी तब तक मनुष्य-जाति की उन्नति नहीं हो सकती और रोग तथा दुःख को निर्मूल करने के सब प्रयत्न निष्फल होंगे।

"मनुष्यजाति का सौभाग्य है कि गुजराती प्रजा का उन्मूलन तेजी से होता जाता है और भावी अपूर्वता का अरुणोदय पास आता जाता है। तब गुजरात की इस विशाल

भूमि में अत्यंत दयनीय मनुष्य-जंतु की दुर्बल जाति नहीं वसेगी वरन् किसी दूसरी प्रतापी जाति की सशक्त, विजयी और स्वतंत्र सन्तानें रहेंगी। जो साधन इस सूर्य को शीघ्र उदित करा सकें, विकास की योजना को शीघ्र कार्यान्वित करा सकें उनका मूल्यांकन नहीं हो सकता।

"इस प्रकार की स्त्री मिलना मुश्किल नहीं। हरएक शहर में और विशेषकर शिक्षित-समुदाय में घूमने-फिरने की जगहों और स्टेशन आदि स्थलों में उसके अनायास दर्शन हो जाते हैं। उसके लक्षण निम्न लिखित हैं—

"उसका रंग उतरा हुआ है। उसकी कमर सीधी नहीं रह सकती। उसका मुख निस्तेज है। उसकी आँखें बड़ी-बड़ी हैं और उनमें अस्वाभाविक तेज दिखाई देता है। उसके शरीर का आकार दो सीधी रेखाओं से ही बना होता है। स्तन और नितम्बों से उस सीधी रेखा में विकार नहीं होता।

"सप्ताह में तीन दिन उसके सर में दर्द होता है। पन्द्रहवें वर्ष उसे हिस्टीरिया होता है। विकास का सबसे बड़ा साधन यदि स्त्री है तो उसका उद्देश्य है सन्तानोत्पत्ति। लेकिन वह इस स्वाभाविक से स्वाभाविक कार्य को भी साधारण ढंग से नहीं कर सकती।

"वह दुख नहीं सह सकती। वह खा नहीं सकती। वह चल नहीं मकती। वह दूसरों को दुखी करती है, कृत्रिम भावुकता का प्रदर्शन कर सकती है, पति का वियोग पल भर नहीं सह सकती। वह जीवन में अभिरुचि दिखाती है, फिर भी एक भी काम रस लेकर नहीं कर सकती। निर्दोष उत्साह

और शैतानी से वह घबराती है। ये सब रोगी मानसिक दशा के लक्षण हैं।

"यह स्त्री न तो बच्चों का पालन-पोषण कर सकती है और न उन्हें शिक्षित बना सकती है। उसे बच्चे अच्छे नहीं लगते प्रत्युत वह उन्हें बेगार समझती है।

"वह शारीरिक श्रम नहीं करती और न उस ओर उसका ध्यान जाता है।

"सज्जनो! शास्त्रीय दृष्टि से सच्ची सेवा यही स्त्री कर रही है। यह हमारी निर्जीव जाति के अन्त को तेजी से निकट लाती जा रही है और इस प्रकार मनुष्यजाति की विजय का उपक्रम करती जा रही है। सो कैसे?

"वह सन्तान पैदा नहीं करती, करती भी है तो वह काम में ही मर जाती है। यदि भूले-भटके वह और सन्तान जीती भी है तो सन्तान तो अल्पजीवी और रोगी होती ही है, वह स्वयं भी पाँच वर्ष तक स्प्रू (संग्रहणी) से पीड़ित रहती है। अक्सर वह और सन्तान दोनों कुछ वर्षों में मर जाते हैं और एक निर्जीव जाति के कुटुम्ब की समाप्ति हो जाती है।

"इस प्रकार प्रतिवर्ष अनेक स्त्रियाँ इस सृष्टि-क्रम का अपूर्व कार्य करती रहती हैं और वह दिन-दिन इतनी तेजी से चलता जाता है कि मुझे कुछ ही वर्षों में गुजराती प्रजा का अन्त होता दिखाई देता है।

"एक निर्जीव जाति का उन्मूलन करने और मानव-विकास की विजय-साधना के लिए नया रहनेवाली

गुजराती स्त्री को ही अर्ध्य दिया जा सकता है। इसलिए इस अवसर पर मैं इतिहास-प्रसिद्ध परन्तु जीने के अयोग्य जाति का विध्वंस करने के लिए कटि-बद्ध इस संहारिणी को अर्ध्य देता हूँ और बारम्बार प्रार्थना करता हूँ कि वह सबको अपने खप्पर में लेकर शीघ्र इस भूमि को प्रजा के रहने योग्य बनावे।"

सभा काँपने लगी। दत्तचित्त होकर सुननेवाले श्रोताओं के कानों में प्रलयकाल की गर्जना सुनाई देने लगी। किसी में बोलने की शक्ति न रही।

परन्तु सभापति महोदय ने स्वस्थता प्राप्त की और भय से आया पसीना पोंछा।

उन्होंने कुर्सी खींची और डाक्टर रसनिधि के भाषण का जादू टूटा। सबने ठंडी साँस ली, गुजरात जीवित है, इसके प्रमाण के लिए चारों ओर देखा और सभापति को खड़ा होते देख उन सबने तालियों से उनका स्वागत किया।

इसके बाद सभापति भाई श्री एडी पोलो ने जोर के साथ अपना भाषण शुरू किया—

"भाइयो! इस समय बोलते हुए मुझे बड़ा आनन्द हो रहा है। मैं कभी इतने बड़े विद्वानों की सभा का सभापतित्व करने योग्य हो सकता हूँ, इसका मुझे आज तक पता न था। (तालियाँ) मैंने ध्यानपूर्वक सबके भाषण सुने हैं और मुझे इस सभा को देखकर एक प्रकार से बड़ा खेद होता है। मुझे कहना पड़ता है कि आप सब आज से सभा से पृथक् हो गये हैं। (विचित्र कोलाहल) वैधानिक शब्दावली में अपनी बात

कहूँ तो आप सबने घोर पक्षपात या द्वेष से विवेचन किया है। (नहीं, नहीं, नहीं, की आवाजें)

"आप भले ही 'नहीं' कहें पर मैं 'हाँ' कहता हूँ। आपके जीवन के पृष्ठ खोलकर मैं यह निश्चय नहीं करना चाहता कि आपकी अर्घ्यार्ह स्त्री कौन है ? लेकिन आप पृथक् होने योग्य हैं परंतु वैसा करनेवाले के अभाव में आपकी सदस्यता कायम है और आपकी सभा जीवित है। (तालियाँ)

"हमारी सभा के सौभाग्य से एक ही सदस्य ऐसा है कि जो इस नियम को भंग नहीं कर सकता। वह मैं हूँ और यह देखकर कि मेरी ही तकदीर में उपसंहार करना लिखा है, मुझे निश्चय हो गया है कि गुर्जर स्त्रियों का भविष्य सोने से मढ़ा हुआ है। (तालियाँ) सज्जनो ! मैं आपके जैसा एकदेशीय नहीं। न तो मैं भाई श्री पुरुरवा जैसा पुराने विचारों का हूँ और न रसनिधि जैसा प्राणिशास्त्रज्ञ मेरा दृष्टिकोण पुरुष का है—सर्वदेशीय है। (तालियाँ)

"सज्जनो ! किसको अर्घ्य दिया जाय, यह विषय मेरे लिए—सच्चे पुरुष के लिए—कठिन नहीं। मेरा हृदय विशाल है। (तालियाँ) मैं नारी-पूजा के विना नहीं रह सकता। जहाँ स्त्री है वहाँ मैं अर्घ्य देने के लिए तरसता हूँ। (तालियाँ) जहाँ स्त्री की पगध्वनि सुनाई देती है वहाँ मेरा हृदय पूजा के लिए पागल हो जाता है। (तालियाँ)

"मैं गुण-दोष देखने नहीं जाता। (तालियाँ) मैं चरित्र का विश्लेषण नहीं करता। (तालियाँ) मैं रूप और कुरूप नहीं देख सकता। जहाँ विकास-क्रम की एक साधारण

जगज्जननी, जगद्विलासिनी, जगन्मोहिनी के दर्शन हुए कि मैं प्रणिपात करता हूँ, अर्घ्य देता हूँ और कहता हूँ—

नमामि कमलाम्
अमलाम् सुस्मिताम्
धरणीम् भरणीम्
मातरम्"

(खूब तालियाँ)

———

एक साधारण अनुभव

रघुनन्दन मेरा अभिन्न हृदय मित्र था। बचपन में हमारी पढ़ाई ही साथ-साथ नहीं हुई थी, वरन् प्रत्येक प्रकार की भविष्य की आशाओं के जो बड़े-बड़े हवाई किले हम बनाते थे उनमें भी हम रात-दिन साथ रहते थे। कालिज में पढ़नेवाले अनुभवहीन युवकों की स्वच्छन्द कल्पना से हम अनेक प्रकार की बातें सोचते थे। हम समझते थे कि हममें विश्वव्यापी आन्दोलनों के अग्रगण्य नेता होने की शक्ति है और प्रलयकाल के समुद्र की तरंगों जैसी ल्यूथर की आत्मा और बुद्धि का उत्साह। यही नहीं, हम संसार की उन्नति के लिए अपनी इन समस्त शक्तियों का उपयोग करने का भी दृढ़ निश्चय करते थे। इसमें भी मेरी अपेक्षा रघुनन्दन में टीमटाम कुछ अधिक थी। वह बातें भी बढ़-बढ़कर करता था। इसलिए मेरी समझ में यह नहीं आता था कि वह कौन-सा उच्च पद प्राप्त करेगा। कभी ऐसा लगता कि वह धार्मिक सुधारक होकर सत्य के लिए ईसामसीह के समान भयंकर मृत्यु को अपनाने

का गौरव पायेगा, कभी ऐसा लगता कि देश-प्रेम पर बलि होकर कोई वीर पुरुष होगा और कभी ऐसा लगता कि सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के समान अनुपम वक्तृत्व-कला का धनी होकर देश की चारों दिशाओं को दहकते हुए शब्दों के अंगारों से भर देगा।

बाद में वह बम्बई आया। पैसे की कुछ कमी होने से मुझे तो एक अंग्रेजी स्कूल की चालीस रुपये की मास्टरी में अपने कल्पना-जगत् को छोड़ना पड़ा; पर रघुनन्दन ने अपना अध्ययन जारी रखा। हमारा पत्र-व्यवहार बराबर चलता रहा और मैं यह सोचकर संतोष प्राप्त करता कि यदि मैं नहीं तो कम-से-कम मेरा मित्र तो बचपन के स्वप्नों को मूर्तिमान् करेगा ही।

एक वर्ष बाद हम मिले। मुझे कुछ खेद हुआ। मैं सोचता था कि रघुनन्दन के निर्मल हृदय की स्वच्छता पर कभी तनिक भी मैल नहीं चढ़ेगा परन्तु उसकी चाल-ढाल देखकर मुझे अचम्भा हुआ। अन्तर के उल्लास की अपेक्षा उसमें बाह्य प्रदर्शन अधिक दिखाई दिया, प्रेम और उत्साह के निर्मल स्रोत में दुनियादारी की कीचड़ अधिक जमती जान पड़ी। मैंने ये विचार मन से निकाल डाले। सोचा, संभव है, मेरी दृष्टि का दोष हो। मैंने पुराने स्वप्नों की बात छेड़ी। उसने उनमें थोड़ा-सा रस लिया लेकिन मुझे लगा कि वह बम्बई की रंगीनी, वहाँ के नाटक और वहाँ के फैशन में अपेक्षाकृत अधिक रस लेने लगा है। ऐसा अनुभव हुआ जैसे उसने हमारी आशाओं की ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं में कुछ

रद्दोबदल कर दी हो। इतना होने पर भी उसमें मेरी श्रद्धा अचल रही। मैंने सोचा कि सांसारिक सुखों को इष्ट माननेवाले पाश्चात्य संस्कृति के अनुपम केन्द्र बम्बई के वातावरण से मनुष्य के दृष्टिकोण में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। इसलिए अपने स्नेहाधिक्य के कारण मैंने उसके स्पष्ट परिलक्षित होनेवाले अधःपतन की ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

रघुनन्दन और एक सुशील बालिका में परस्पर प्रेम था। वह मुझे सदैव पत्रों में उसके गुणों के विषय में लिखा करता था। मैं समझता था कि कुछ दिन बाद वह उसी से विवाह करेगा। लेकिन उसने मुझसे कहा कि उस लड़की के बाप की स्थिति अच्छी न होने के कारण उसने विवाह स्थगित कर दिया है।

दो-एक महीने बाद मुझे एक पत्र मिला कि रघुनन्दन एक धनवान् की लड़की से विवाह कर रहा है। पहले मैंने विश्वास नहीं किया। यहाँ तक कि रघुनन्दन के लिखने पर भी उसे कोई जवाब नहीं दिया। कारण, मैं कभी यह मान ही नहीं सकता था कि रघुनन्दन जैसा उच्चादर्शवाला मनुष्य प्रेम-सम्बन्ध द्वारा अपनाई गई अपनी प्रियतमा को छोड़कर किसी दूसरी स्त्री से विवाह करेगा। लेकिन इसी बीच मुझे बम्बई जाना पड़ा। पहले जब कभी मैं बम्बई जाता था तो रघुनन्दन पत्र पाकर दौड़ता हुआ स्टेशन आता था पर इस बार मेरे पहुँचने के एक दिन बाद तक भी वह नहीं आया। मेरे मन में अनेक भ्रम उत्पन्न हुए। मेरा हृदय भी बहुत दुखी हुआ। रघुनन्दन के उज्ज्वल भविष्य और देशोपयोगिता पर मेरी

इतनी श्रद्धा थी कि मैं यह मानने लग गया था कि यदि उसका अधःपतन हो गया तो देश और समाज के लिए यह एक भयंकर आघात होगा।

दूसरे दिन भाई साहब दिखाई दिये। विलायती रंग-ढंग और बहुमूल्य वस्त्रों से सुसज्जित। रघुनन्दन को देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। 'सादा जीवन उच्च विचार' के पवित्र आदर्श की साधना करनेवाले में यह शान-शौकत कैसी? साहब बैठे। ऊँची सोसाइटीवाली चालाकी से कुछ देर इधर-उधर की बातें कीं। मुझसे न रहा गया। मैंने विवाह के सम्बन्ध में पूछा।

"हाँ, अमुक सेठ की इकलौती लड़की के साथ अगले महीने मेरा विवाह होगा," अँगुली की अँगूठी के चमकते हुए नग को ऊपर लाते हुए उसने कहा, "तुझे भी आज ही बालकेश्वर आना पड़ेगा। तेरा परिचय कराऊँगा।" सत्य को छिपाकर कपट द्वारा किया गया मित्र-द्रोह, गरीब माँ-बाप की निराधार लड़की को धोखा देकर किया गया प्रेम-द्रोह, धन के लालच में नये सम्बन्ध को स्वीकार करने के साथ-साथ फैशन में डूबकर किया गया अन्तर का आच्छादन और आत्म-द्रोह—यह सब मैंने देखा और विना शरमाये उसे ऐसी धृष्टता करते हुए देखकर मुझे उसके प्रति घृणा उत्पन्न हुई। यह रघुनन्दन! मैंने उसे आड़े हाथों लिया। घंटे भर तक जो कुछ मुझसे कहा गया सो कहा और तिरस्कार का समस्त शब्दकोष खाली कर दिया लेकिन वह हँसता ही रहा।

अन्त में उसने जवाब दिया—"देख भाई! ये सब अपने स्वप्न थे। क्या हममें ल्यूथर अथवा शंकर की प्रतिभा है? हम

लोग अल्प शक्तिवाले हैं। इतना होने पर भी यदि हमारे पास काफी पैसा हो तो हम किसी अंश में उसका सदुपयोग कर सकते हैं। उससे देश की भलाई भी कर सकते हैं। केवल भाषण देने की अपेक्षा पैसे का त्याग करके देश की सेवा करने में अधिक शोभा है। तू जरा सोच कि इसमें मन को तो थोड़ा मारना पड़ता है पर इसके द्वारा हम जनसमाज को कितना अधिक लाभ पहुँचा सकते हैं।" यह बात थी तो हलकी पर ठीक मालूम पड़ती थी। मुझे लगा कि रघुनन्दन अब अवश्य कुछ करेगा। वह लखपति होकर उच्च त्याग का आदर्श रखेगा। लक्ष्मी और सरस्वती दोनों को प्रसन्न करेगा और वास्तव में अपनी भावनाओं को किसी न किसी अंश में पूर्ण करेगा।

कुछ समय बाद धूमधाम से रघुनन्दन का विवाह हुआ। जैसा कि सुना गया छः महीने बाद उसकी परित्यक्ता प्रियतमा विरह से क्षीण होकर स्वर्गधाम चली गई। उस समय रघुनन्दन महाबलेश्वर में आनन्द लूट रहा था। नई स्त्री के सघन स्नेह में निर्धन अभागिनी की अकालमृत्यु की कौन चिन्ता करता है? पत्र पढ़कर उसे रद्दी की टोकरी में फेंककर रघुनन्दन पत्नी के साथ टेनिस खेलने चला गया।

उसके तीन वर्ष बाद मैं फिर बम्बई आया। मेरे लिए स्टेशन पर मोटर तैयार थी। अपार धन-वैभव में विहार करने का यह अनुभव मेरे लिए नया था। तेजी से हम बालकेश्वर पहुँचे। आदमियों ने आकर मेरे लिए निश्चित कमरा दिखाया। सारे मकान का ठाट-बाट राजाओं के गर्व को चूर करनेवाला था। यदि केवल बँगले के ही बेकार के

साज-सामान को बेचकर पैसा इकट्ठा किया जाता तो त्योरस की साल के अकाल में एक भी प्राणी या जानवर न मरने पाता। काठियावाड़ में पैसे के अभाव के कारण अन्न-जल के विना तड़पते हुए मृत्यु-शय्या में पड़े प्राणी की अपेक्षा एक घृणित प्राणी को प्रसन्न रखने के लिए, उसकी तृष्णा को शान्त करने के लिए कितना खर्च, कितनी मेहनत! कितनी खुशामद!

तदनन्तर मैं रघुनन्दन से मिला। अपने विद्वान् बालमित्र की मानसिक उत्साह से चमकती आँखें, उच्चाभिलाषा से गूँजती वाणी, और अध्ययन की गरिमा से दीप्त भाल के स्थान पर अलसाई हुई विषयी आँखें, फैशनेबुल समझी जानेवाली पारसियों की-सी भाषा, कठिनाई से निकलनेवाली लम्बी सी आवाज और अनेक सुगन्धित पदार्थों से झकझकाता हुआ मुख देखकर मैं चौंक पड़ा।

इसके बाद जैसे ईंट-पत्थर या शीशे-लकड़ी में कोई बड़ा भारी भव्यता हो ऐसे वह मुझे अपना बँगला दिखाने के लिए साथ लेकर चला। उसके वर्णन से किसको लाभ होनेवाला था? मुझे ग्रीस के एक महात्मा की याद आई। एक पैसेवाले शिष्य ने डायोजिनीस को अपना भव्य महल दिखाकर प्रशंसा की दृष्टि से उसके सम्बन्ध में उस तत्त्ववेत्ता का अभिप्राय पूछा। डायोजिनीस ने शिष्य के मुख पर थूका और हँसकर बोला—"और सब तो सुन्दर है पर इतनी ही सी जगह गन्दी है।" मुझे भी रघुनन्दन को ऐसा ही कोई प्रशंसा-पत्र देने की इच्छा हुई।

यह अमुक 'हाल' और यह 'फलाँ' रूम करते-करते हम लायब्रेरी कही जानेवाली जगह पर आये। वहाँ मैंने अनेक चमकती हुई अलमारियों में अत्यंत शानदार जिल्दों और सुनहरे नामों से सुशोभित कई एक अस्पर्श्य और विलासियों की वासना की तृप्ति के हेतु तृप्त्यर्थ लिखे गये उपन्यास देखे। कुछ अलमारियों में साहित्य के ग्रंथ ज्यों के त्यों—विना पन्ने चीरे—शोभा दे रहे थे। गत पाँच वर्षों में किसी ने भी उन्हें छुआ हो, ऐसा नहीं जान पड़ता था।

"रघुनन्दन! तेरी कालिज की छोटी किताबों का क्या हुआ? वे तो तुझे प्राणों से भी अधिक प्यारी थीं।"

"कौनसी, वे छः-छः आनेवाली। हाँ, वे तो बिलकुल बेकार थीं। उन्हें मैंने फेंक दिया।" सच है, जब ऊँचे विचारों को जन्म देनेवाली ही चली गई तब ऊँची भावनाएँ ही कहाँ से रह सकती हैं?

इतने में एक नौकर ने आकर कहा कि जोसफाइन बीमार हो गई है। यह नाम सुनकर मुझे महान् नेपोलियन की स्त्री का स्मरण हो आया। रघुनन्दन का चिन्ताग्रस्त मुख देखकर मुझे यह जानने की जिज्ञासा हुई कि यह जोसफाइन कौन हैं। हाँफते-हाँफते हम एक कमरे में आये। वह कमरा कुत्तों के पिंजरापोल जैसा लगता था। कारण, मैंने वहाँ १५-२० कुत्तों को मौज करते हुए देखा। उन्हें देखकर जब मैं अत्यधिक घृणा के भाव से भर रहा था तब मुझे पता चला कि जोसफाइन एक कुतिया है। इस भाग्यशाली जानवर के लिए मोटर में डाक्टर आया और जब उसे कुछ आराम

मिला तब रघुनन्दन की जान में जान आई। उस समय मुझे उस स्वर्गवासिनी प्रेममयी नारी का ध्यान आया जो रघुनन्दन की नीचता के कारण बचपन में ही मर गई थी। मुझे कँपकँपी आ गई। उसके बाद उसने मुझे प्रत्येक कुत्ते की जाति, कुटुम्ब, गुण आदि का इतिहास बताया। यदि इतनी अधिक स्मरणशक्ति का प्रयोग अन्यत्र किया गया होता तो निस्संदेह हिन्दुस्तान का इतिहास लिख जाता।

इसके बाद की अपनी तबेले की यात्रा और उसके घोड़ों के गुणों का विवरण देकर मैं पाठकों को उबाना नहीं चाहता। मुझे तो यही लगा कि यदि रघुनन्दन कुत्तों अथवा घोड़े-गधों का व्यापारी होता तो बहुत अच्छा काम करता और दुनिया के लिए कहीं अधिक उपयोगी सिद्ध होता। तत्पश्चात् रघुनन्दन ने अपनी समृद्धि और वस्तुओं का वर्णन किया और मुझसे पूछा—"क्यों दोस्त ! सब लाजवाब है न ? केवल एक ही तकलीफ है।"

"क्या ?" मैंने उपेक्षा भाव से पूछा।

"खर्च नहीं चलता। क्या करूँ ? बड़ी मुश्किल पड़ती है।"

उस समय मुझे थोड़ी देर पहले देखे हुए एक दर्जन घोड़े, दो दर्जन कुत्ते और पाँच दर्जन जूते याद आये पर मैं बोला नहीं।

"तब तो किसी दूसरे काम में पैसा शायद ही लगता हो ?" मैंने पूछा।

"नहीं भाई। एक कौड़ी भी नहीं बचती। मैं क्या

करूँ ?" यह बात उसने ऐसे कही जैसे इसमें कौड़ी का दोष हो! और फिर पूछा—"लेकिन दोस्त सच बता, सब वस्तुओं की व्यवस्था तो ठीक है न ?"

"बिलकुल ठीक है रघुनन्दन! लेकिन एक बात है और वह यह कि तेरे यहाँ सब वस्तुओं के लिए तो जगह है पर एक वस्तु रखने की जगह कहीं नहीं दिखाई देती।"

"किसकी ?"

"किसकी! यहाँ सब कुछ है पर तेरी भावना, पुरुषार्थ के ऊँचे आदर्श, त्याग और सेवा के शुद्ध संकल्प का स्थान यहाँ कहीं नहीं दिखाई देता। उनके लिए कहीं जगह नहीं है। ऐसा लगता है कि वे सब कालबादेवी की उस छोटी और गंदी कोठरी में रह गईं जिसमें कि तू पहले रहता था। न केवल वे बल्कि पुराना रघुनन्दन भी वहीं रह गया। क्यों, ऐसा नहीं है ?"

मैंने अपने छोटे से गाँव में और थोड़ी-सी तनख्वाह में अपनी भावनाओं को रघुनन्दन की अपेक्षा अधिक अच्छे ढंग से सुरक्षित रखा था। इसलिए पाँच-छः दिन में ही आनन्द के अत्यधिक उपभोग से ऊबकर मैं अपने गाँव को चल दिया। बँगला छोड़ते समय मुझे भर्तृहरि का यह श्लोक याद आया—

साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।
तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम्॥

———

कण्डु-आख्यान

टीकाकार की टिप्पणी

[जिस प्रकार दूसरे धर्मों के पवित्र ग्रंथों में स्त्री-पुरुष के निर्माण का इतिहास मिलता है वैसे ही हमारे धर्मग्रंथों में भी मिलता है। लेकिन यह बात निर्विवाद है कि हमारे धर्म के सनातन और धर्मग्रंथों के त्रिकालज्ञ महापुरुषों द्वारा रचित होने से हमारे यहाँ का इतिहास प्रामाणिक है। सभी धर्म मानते हैं कि सृष्टि का सम्राट् पुरुष है और वह पहले बना। परन्तु अन्य धर्मों की यह धारणा कि स्त्री को ईश्वर ने पीछे से बनाया, हमारे ग्रंथों की दृष्टि से गलत ठहरती है। हमारा इतिहास कहता है कि स्त्रीमात्र का जन्म कण्डु मुनि द्वारा की गई भूल से ही हुआ। यह इतिहास संक्षेप में विष्णु-पुराण, खण्ड प्रथम, अध्याय पन्द्रह में मिलता है।

एक दिन मैं एक विद्वान् के पुस्तकालय में पुराणों की भिन्न-भिन्न प्रतियाँ देख रहा था कि विष्णुपुराण की एक जर्जर

प्रति मेरे हाथ लगी। उसमें कण्डु मुनि के आख्यान और स्त्री के निर्माण की कथा कुछ और ही ढंग से लिखी मिली। यह आख्यान हमारे धर्म के, बल्कि सब धर्मों के, और कुछ अंशों में हमारे समाज के स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है। शीघ्र ही मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि इस आख्यान को संशोधन करके टीका सहित प्रकाशित किया जाय और मैंने इस कार्य को हाथ में लिया। आशा है कि पाठक इसमें निहित मर्म को समझ लेंगे। मेरी अनुवाद करने की शक्ति कमजोर है फिर भी यदि पाठक इस सिद्धान्त पर चले कि दोष सब मेरे और गुण सब मूल के तो जैसा कि कहा गया है, यह आख्यान 'श्रोतव्य और वक्तव्य' दोनों लगेगा। हमारे युग में विद्वानों ने ऐसे साहित्य को ही वास्तविक साहित्य कहा है जिसे पिता पुत्री के सामने पढ़ सके। इस आख्यान से प्रकट है कि या तो संस्कृत-साहित्य-स्रष्टाओं के समय में साहित्य का यह मानदण्ड मान्य नहीं था या उस समय पिता और पुत्री के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धियों के बीच भी साहित्य के आनन्द का उपभोग किया जाता होगा।

इस आख्यान में जिस श्लोक पर तारे का चिह्न लगा है वह या उसका अधिकांश प्रचलित प्रतियों में मिल जाता है—इति शिवम्—संशोधक और टीकाकार]

मैत्रेय उवाच—मुनियों में श्रेष्ठ ! स्त्री किसने बनाई और उसे बनाने का उद्देश्य क्या है, वह पुरुष को कैसे पतित करती है और उसे त्यागने से ही कैसे मोक्ष मिलता है ?। १।

हे पाराशर ! जीवन और धर्म में स्त्री का क्या स्थान

है ? ब्रह्मचर्य से ही तप की सिद्धि कैसे होती है ? और यदि स्त्री के त्याग से ही तप की सिद्धि है तो स्त्री पैदा क्यों हुई ? और यदि पैदा हुई तो उसे अनधिकारी क्यों समझा गया ? । २ ।

हे वेदविदों में श्रेष्ठ ! हमने सुना है कि स्त्रियों के त्याग से ही मोक्ष मिलता है, ऐसा श्रुति कहती है । तो ऐसे त्यागियों में पहला कौन है ? और उसने किसलिए स्त्री को त्यागा ? इन सब प्रश्नों का इतिहास और निराकरण हम ध्यानपूर्वक सुनना चाहते हैं । ३ ।

पाराशर उवाच—स्त्री ही सृष्टि में कलंक-रूप है और उसे त्यागने से ही मोक्ष मिलता है । उसके बनने से सृष्टि की पूर्णता भी दूषित दिखाई देती है । ऐसा हे मैत्रेय ! परापूर्व से विबुधजन कहते आये हैं । ४ ।

स्त्री को त्याज्य समझना चाहिए, यह चेतावनी अनादि-काल से दी जाती रही है । पुरुष इसे भूल जाते हैं, यही उनके निर्बलता और अधःपतन के साधन की सबलता का सूचक है । ५ ।

समस्त ऊर्ध्वगामी प्रेरणाओं की शत्रु, तप की विनाशक, मोक्षमार्ग की अन्तराय—ऐसी राक्षसी वह स्त्री है, ऐसा ज्ञानियों का वचन सप्रमाण है । ६ ।

दर्शन से वह चित्त को हरती है, स्पर्श से वह बल को हरती है.......................* नारी प्रत्यक्ष राक्षसी है । ७ ।

ये कण्डु मुनि प्रजापति दक्ष की माता आद्य श्री मारिषा के पिता थे, उनके द्वारा ही स्त्रियाँ और ब्रह्मचर्य दोनों प्रकटे । इनके द्वारा समस्त सृष्टि पैदा हुई । ८-९ ।

---

* इस स्थान पर प्रति फटी हुई है ।

यह श्रोतव्य तथा वक्तव्य है, इसके सुनने से मोक्ष मिलता है, यह तीनों कालों में स्मरण योग्य है और इससे संसार-सागर सहज ही तरा जा सकता है। १०।

मैत्रेय उवाच—हे पाराशर ! आपने हमारी उत्कंठा को बहुत बढ़ा दिया है। मोक्ष के मार्ग का साधन-जैसा यह आख्यान हमें श्रवण कराओ। हम उसे एकाग्रचित्त से सुनने को उत्सुक हैं। ११।

पाराशर उवाच—हे मैत्रेय ! सृष्टि के प्रारंभ में गोमती के रम्य तट पर स्वच्छ और छोटी-सी पर्णकुटी में शान्त और एकाकी यह मुनियों में श्रेष्ठ महात्मा अटल तप का आचरण करते थे। १२।

पृथ्वी के विशाल एकान्त में वह प्राणायाम साधे, इन्द्रियों का दमन किये और नासिकाग्र पर नयन जमाये अपूर्व निर्लिप्तता अनुभव कर रहे थे। १३।

स्त्री या संसार और उनके अनुगामी पाप और दुःख अभी उत्पन्न नहीं हुए थे। फिर भी ऐसा लगता था जैसे भावी के भार को वहन करनेवाले मुनिवर्य सदोष सृष्टि को पहले से ही दोषरहित करने के लिए प्रयत्नशील हों। १४।

इस महात्मा के साथियों में सूर्य, चन्द्र और तारागण थे, † गोमती के नीर का सुसंगीत उसकी आत्मा में ऊर्मि उत्पन्न करने के लिए प्रवाहित रहता था। १५।

---

† सब प्राणी दक्ष प्रजापति से उत्पन्न हुए इसलिए कण्डु मुनि के समय में पेड़, घास-पात और पृथ्वी के अतिरिक्त और कुछ होना सम्भव नहीं।—टीकाकार

सूर्योदय की ही नवीनता उनके हृदय में उमंग का संचार करती। मन में आता सो खाते। जहाँ मन आता वहाँ विचरते। दुःख की प्रतिध्वनि उनके जीवन में कभी सुनाई न देती। १६।

सब पापों का मूल जो स्त्री है उसके संचरण से रहित सृष्टि के वे एकाकी भोक्ता थे।* .... । १७।

कभी-कभी निर्जन सृष्टि का एकाकीपन उन्हें खलता परन्तु यह सोचकर कि यह मानवीय दुर्बलता का चिह्न है, वे शम, दम, जप और तप द्वारा अपने स्वभाव पर काबू पा लेते। १८।

"यह रोज उठना कैसा ?" डूबकर मुनि ने दायें और बायें नकुए के आगे अँगुली रखकर श्वास की परीक्षा की और इस बात का निश्चय किया कि इस प्रश्न में निहित निर्बलता उनके प्रौढ़ हृदय में कैसे आई ?। १९-२०।

अन्त में वे उठे। विधना का किया कभी मिथ्या नहीं होता। हाथ में कमण्डल लिये वे प्रातःकाल गोमती की ओर संध्या करने चले। २१।

शुद्ध जल से स्नान करके उन्होंने प्राणायाम साधा। उदय होते सूर्य को अर्घ्य देते हुए उन्होंने निर्निमेष नेत्र सूर्य-बिम्ब पर स्थिर किये। २२।

सविता के बिम्ब का ध्यान करते समय बीच में अंतराय आया। मुनि की एकाग्रता गई। नरों में श्रेष्ठ और तपस्वियों में प्रथम जैसे उनके शान्त हृदय में घबराहट पैदा हुई। २३।

---

*यहाँ का एक चरण ठीक-ठीक नहीं पढ़ा जाता।

उस समय उन्होंने अपने और सूर्य के बीच में एक छोटा सा बादल उतरता देखा और स्त्री से अपरिचित उनके आश्चर्य की सीमा न रही। २४।

वह बादल उन्हीं के जैसे आकार का होते हुए भी सुरम्य था। उसके दो हाथ और दो पैर थे, यह तो लगा फिर भी उसके बाल उनके जैसे न थे। २५।

उसका स्वरूप संध्या के रंग-बिरंगे बादलों जैसा रमणीय था और इतना होने पर भी उस बादल में पूर्ण चन्द्र का बिम्ब भी दिखाई दिया। २६।

ऐसा रमणीय और अपरिचित दृश्य देखकर मुनि का रोम-रोम खड़ा हो गया। वे डरे, उनको जरा आनन्द आया और कुछ उत्साह भी हुआ। २७।

मुनि को लगा कि यह दर्शन क्षण भर के ही लिए है इसलिए जैसे प्यासा आदमी पानी पीते-पीते अघाता नहीं वैसे ही मुनि के नेत्र उसको देखते-देखते अघाये नहीं। २८।

वह अपार्थिव और तेजस्वी बादल चन्द्र के बिम्ब सहित गोमती के तीर पर उतरा और मुनि के हृदय में सरिता के नीर से भी अधिक हृदय-भेदक संगीत शुरू हुआ। २९।

इस बादल में छिपे चन्द्रबिम्ब के आसपास के बाल काले, सुन्दर और लम्बे थे। वे वायु में स्वच्छन्दता से लहरा रहे थे और यदा-कदा बादल की सुरम्य रेखाओं को ढकते थे। ३०।

चन्द्रबिम्ब की हँसी मधुर थी। उसकी सुरम्य मोहकता को न देख सकने के कारण मुनि ने बादल की रेखाओं की

ओर दृष्टि फेरी और उसकी रग-रग में अपूर्व आनन्द से पूर्ण उत्साह व्याप्त हो गया । ३१ ।

यह उत्साह नया था फिर भी ब्रह्म पाने के लिए श्रम करते इस योगी को ऐसा लगा जैसे इस आनन्द के अनुभव में उनको अपने तप की परम सिद्धि मिल रही हो । ३२ ।

मुनि ने सूर्य की ओर देखा तो वह धुँधला लगा, पृथ्वी की ओर देखा तो वह निस्तेज दिखाई दी । अंधकार में समाती सृष्टि में यदि कोई तेज का केन्द्र था तो केवल वही बादल था । और तप से तेजस्वी बनी मुनि की दृष्टि इस तेज को छोड़कर अन्यत्र नहीं ठहरी । ३३ ।

क्या कर रहे हो ? सुमधुर स्वर में उस बादल ने पूछा और आनन्द की लहरों ने चारों ओर से सृष्टि को घेर लिया । ३४ ।

मुनि ने अन्तर्नाद, प्रकृतिनाद और ब्रह्मनाद ये तीन नाद सुने थे और अपनी आवाज को पेड़ों के समूह तथा गुफाओं के अन्धकार में प्रतिध्वनित होते सुना था पर ऐसी आवाज उन्होंने कभी न सुनी थी । ३५ ।

उनको वह आवाज ब्रह्मनाद के सार के समान लगी । उनकी नस-नस में अद्‌भुत संगीत का संचार हो गया । उनके अन्तर में अद्‌भुत प्रेरणा जाग्रत् हुई । हँसकर वे पानी से बाहर निकले और उस बादल की ओर आये । ३६ ।

लेकिन पास जाकर मुनि स्तब्ध बनकर खड़े हो गये । रमणीय बादल के आकर्षण के प्राबल्य के बढ़ने से वे हिल

तक न सके। मात्र उस चन्द्रबिम्ब से स्तन, स्तन से *......
पग तक की रमणीयता को वे देखते रह गये। ३७।

बादल हँसा, उसके हास्य से उस स्थितिप्रज्ञ को रोमांच हो आया। उसने बादल में छिपे मुख जैसे चन्द्रबिम्ब पर दृष्टि डाली तो उसके ओठों में कुछ नवीनता दिखाई दी। जिसने अहिंसादि यम पूर्णरूप से साधे थे ऐसे उन तपस्वी के चिन्तनशील मस्तिष्क में यह स्वाभाविक विचार उत्पन्न हुआ कि यदि उन ओठों को छुआ जाय तो वे कैसे लगेंगे। ३८।

मुनि भी हँस पड़े। हँसना जैसे एक लाभ की बात हो ऐसे वे हँसते ही रहे। वे पास आये तो देखा कि बादल पारदर्शक नहीं था प्रत्युत उनके जैसा ही स्थूल देही था। उनके आश्चर्य की सीमा न रही। ३९।

बादल के स्वभाव को वायु जैसा सूक्ष्म समझनेवाले इस महातपस्वी को, इस रमणीय बादल को दोनों हाथों से स्पर्श कर उसकी स्थूलता की जाँच करने की तीव्र उत्कंठा हुई। ४०।

क्या तुम यहाँ अकेले ही हो? मीठी आवाज से प्रश्न करता वह बादल आश्चर्यचकित नयनों से मुनि को देखने लगा। ४१।

मुनि अकेले ही रहते थे और अकेले ही मरने की आशा रखते थे। उनके जैसे आत्मनिष्ठ को साथी की आकांक्षा थी ही नहीं। ४२।

अपने स्वर के अतिरिक्त अन्य किसी के स्वर से अपरि-

* यहाँ प्रति के फट जाने से कुछ शब्द छूट गये हैं।

चित मुनि बादल के सुन्दर स्वर को सुनकर ब्रह्मनाद की सिद्धि का अनुभव करने लगे। ४३।

फिर भी मुनि को यह प्रश्न दुःखद लगा। इस प्रश्न से उनको ऐसा लगा जैसे उनके हृदय की गहराई में एकाकीपन का भय समा गया हो। ४४।

उन्होंने उस बादल की ओर दयनीय दृष्टि डालकर खिन्न स्वर में उत्तर दिया—"मैं क्या करूँ ?"। ४५।

जब उस रमणीय बादल ने विस्मयसहित यह पूछा कि 'क्या तुम्हारे कोई नहीं है ?' तो मुनि ने कहा कि 'और कौन हो सकता है ?'। ४६।

यह प्रश्न सुनकर उस बादल की हँसी का पार न रहा। और जैसे वह मुनि के अधःपतन की भविष्यवाणी कर रहा हो ऐसे उसने पूछा—"क्या तुम्हारे स्त्री नहीं ?"। ४७।

स्त्री क्या वस्तु है, इस बात से अनजान-से शुद्ध हृदयवाले कण्डु मुनि स्त्री के अर्थ क्या हैं, उनके स्त्री क्यों होनी चाहिए आदि प्रश्नों के निराकरण में असमर्थ होने के कारण उस बादल की ओर देखते भर रह गये। ४८।

मुनि को इस प्रकार निरुत्तर देखकर बादल खिलखिलाकर हँस पड़ा। किसी के साथ बातचीत करने का अनुभव न रखनेवाले तपस्वी ने बड़ी कठिनाई से पूछा—"तुम कौन हो ?"। ४९।

"मैं अप्सरा हूँ। देवलोक में मुझे प्रम्लोचा कहते हैं।" इन सुन्दर शब्दों में बादल ने अपना परिचय दिया। ५०।

'प्र-म्लो-चा' शब्द का बड़ी कठिनाई से उच्चारण करते हुए मुनि ने पूछा—"देवलोक क्या है ?" । ५१ ।

जवाब में प्रम्लोचा की तिरस्कारयुक्त हँसी सुनकर मुनि स्तब्ध होकर चुप रह गये और उनको बोलने का ध्यान ही न रहा । ५२ ।

"मुनिश्रेष्ठ ! यह जो आकाश है इसके उस पार देवों की भूमि है । वहाँ देवी-देवता सदा आनन्द से विहार करते हैं ।" अप्सरा ने कहा । ५३ ।

"तुम्हारे जैसे ?" अपने एकाकीपन की स्थिति से खिन्न होकर मुनि ने पूछा और गद्‌गद कण्ठ से कहा—"और मैं यहाँ अकेला ही ?" । ५४ ।

इस प्रकार आत्मनिष्ठ मुनिसत्तम, पाप के प्रारंभ से होने-वाली वेदना की भाँति, अपने एकाकीपन की तीव्र वेदना का अनुभव करने लगे । ५५ ।

"प्रम्लोचा !" जैसे नाम के उच्चारण से ही माधुर्य झर रहा हो ऐसे मुनि ने उसे सम्बोधन किया और मनुष्य या पशु-रहित सृष्टि के उस स्वामी के आर्य-हृदय में अतिथियज्ञ की भावना का संचार हुआ । ५६ ।

और "क्या उस आश्रम में चलोगी ? मैं कुछ फल दूँगा ।" कहकर उस महात्मा ने आदर से अप्सरा को निमंत्रण दिया । ५७ ।

"नहीं, मुझे देवलोक लौटना है ।" कहकर उस सुन्दर अप्सरा ने वहाँ रहने से इनकार किया । ५८ ।

यह शब्द सुनकर उस स्थितप्रज्ञ की जान-सी निकल

गई। उसका मुँह सूख गया, शरीर काँपने लगा और रोमांच हो आया*। ५९।

उनको लगा कि प्रम्लोचा से ही शरीर में प्राण और व्योम में सूर्य हैं। उसके कारण ही वे जीवित हैं और यदि वह चली गई तो वे निश्चय ही मर जायँगे। ६०।

इस ज्ञान की प्राप्ति होते ही मुनि की आँखों से आँसुओं की धाराएँ बहने लगीं और उन्होंने प्रणिपात करके गद्गद कण्ठ से उससे न जाने की प्रार्थना की। ६१।

जिसके हृदय में मुनि की प्रार्थना घर करने लगी थी ऐसी उस अप्सरा ने आखिर पूछा—"मैं यहाँ रहूँ तो सही पर करूँ क्या?"। ६२।

"मैं फल दूँगा, फल दूँगा, व्यजन डुलाऊँगा।" जैसे वचन कहने पर भी अप्सरा को रीझते न देख मुनि के शोक का पार न रहा। ६३।

"मैं तेरे पैरों की धूल होकर रहूँगा, मैं तुझे निरन्तर रिझाता रहूँगा और तू चली जायगी तो शरीर छोड़ दूँगा।" जैसे शब्दों द्वारा उन्होंने फिर प्रार्थना की। ६४।

अप्सरा कठिन हृदय करके कहीं चली न जाय, यह भय जिन्हें विकल कर रहा था ऐसे वे मुनि उसके पैरों पर सर रखकर बार-बार विनती करने लगे। ६५।

---

* इसमें गीता के प्रथम अध्याय के २८-२९ श्लोकों की झलक जान पड़ती है। टीकाकार को खेद है कि इस आख्यान की तिथि के निश्चित न हो सकने से कौन मूल है और कौन अनुवाद, इसका निश्चय नहीं हो सकता।

जिसका कोमल हृदय आर्द्र हो गया था ऐसी वह अप्सरा अन्दाज के साथ कमर को लचकाकर नीचे झुकी और "यह क्या करते हो ?" कहती हुई मुनि को उठाने को उद्यत हुई । ६६ ।

अप्सरा का स्पर्श होते ही जिनके रोम-रोम में अग्नि व्याप्त हो गई थी ऐसे वे महात्मा उछलकर खड़े हो गये और याचक की नम्रता भूलकर अप्सरा से लिपट गये । ६७ ।

देवांशी अप्सरा की देह आकाश-तत्त्व की है या पार्थिव तत्त्व की और दबाने से यह बची रहेगी या पिचक जायगी, इसका निर्णय करने के लिए मुनि अप्सरा को जोर से दबाने लगे । ६८ ।

इस अप्सरा के मुखचन्द्र से सुधा बहती है या नहीं, इस परम गहन विषय का एकाग्रता से निराकरण करने के लिए वे उसके अधररस का पान करने लगे । ६९ ।

यह उत्साह और अधीरता देखकर उस कोमलांगी अप्सरा ने हँसते नयनों और 'मैं रहूँगी, मैं रहूँगी' जैसे शब्दों से मुनि को आश्वासन दिया । ७० ।

तत्पश्चात् मुनि और अप्सरा निर्जन सृष्टि की हरी-भरी कुंजों में विहार करने लगे और एक दूसरे को पुष्पों के हार से सजाने लगे । ७१ ।

पर्वतों के शृंगों और नदियों के तटों पर छेड़ा गया दोनों का सुमधुर और भावपूर्ण संगीत दसों दिशाओं को मोहक प्रतिध्वनि से भरने लगा । ७२ ।

हँसने बोलने एक दूसरे के पीछे दौड़ने और खेल में

परस्पर लिये गये चुम्बनों की आवाज से समस्त कन्दराएँ गूँजने लगीं । ७३ ।

दिन में वृक्ष की शीतल छाया के नीचे और रात को गोमती तट की रेती में एक दूसरे का हाथ पकड़े अप्सरा के केशों से आच्छादित होकर हृदय पर हृदय और अधर पर अधर धरे उन्होंने समय बिताना आरंभ किया । ७४ ।

गोमती के पानी के छींटों से एक दूसरे को भिगोते और पानी में डुबकी लगाकर एक दूसरे को विह्वल बनाते उनका मध्याह्न जल्दी से बीतने लगा । ७५ ।

स्वप्न-सम जाग्रत् अवस्था में और जाग्रत्-सम स्वप्नावस्था में अभिन्नता अनुभव करते हुए उन्हें रातें ऐसी लगने लगीं जैसे वे हों ही न । ७६ ।

हे मैत्रेय ! इस प्रकार एक दूसरे से तृप्त होते, निर्जन सृष्टि को अपनी कल्लोल से भरते और निरन्तर अपूर्व आनन्द में निमग्न रहते वे कालयापन करने लगे । ७७ ।

मैत्रेय उवाच—हे पाराशर ! इस प्रकार इन मुनि और अप्सरा ने कब तक विहार किया और अन्त में क्या हुआ, इसकी कथा विस्तारपूर्वक हमसे कहो । ७८ ।

पाराशर उवाच—इस प्रकार संयमियों में श्रेष्ठ कण्डु मुनि को प्रम्लोचा अप्सरा के साथ निरन्तर विहार करते समय का किंचित् मात्र भी पता नहीं रहा । ७९ ।

यों ही साथ रहते शत-शरद बीत गये और देवलोक में जाने के लिए इच्छुक प्रम्लोचा ने विनम्रता से आज्ञा माँगी । ८० ।

प्रम्लोचा ही जिस मुनि का आधार हो उसे इस याचना से ऐसा लगा मानो उनके प्राण निकल रहे हों। वे अकेले रहने के डर से थर-थर काँपने लगे और उन्होंने साश्रु नयनों से अप्सरा से विनय की। ८१।

कण्डु उवाच—चन्द्रकिरण की शान्ति और सूर्यकिरण के उल्लास की दाता! तेरे इस कथन से मेरा हृदय काँपता है और मेरे प्राण निकले जाते हैं। ८२।

मेरे तप की परम सिद्धि-रूप प्रम्लोचा! क्या तू यह भूल गई कि मैंने अनेक सदियों तक तेरी प्रतीक्षा करके तुझे प्राप्त किया है। ८३।

मैं तेरे ही कारण जीता हूँ। तेरे सम्पर्क के विना मैं पल भर भी जीवित नहीं रह सकता। तू मुझे छोड़ जाने की निर्दयतापूर्ण बात क्यों कहती है? तेरे विना जीवन व्यर्थ है। ८४।

चन्द्रमुखी! तू ही मेरा सर्वस्व है। तू चली गई तो सृष्टि में मेरा सूर्य सदा को अस्त हो जायगा। मेरे प्राणों की आधार! तू जा मत, मेरे ऊपर दया करके यहीं रह। ८५।

पाराशर उवाच—मुनि को इस प्रकार दीनता प्रदर्शित करते देखकर प्रम्लोचा की आँखें सजल हो गईं। उसने कण्डु मुनि के आँसू पोंछकर उन्हें अपनी भुजलताओं में लेकर आश्वासन दिया। ८६।

प्रम्लोचा उवाच—मुनिश्रेष्ठ! मुझे अपने प्यारे देवलोक का स्मरण हो आता है। सौ वर्ष पहले त्यागा हुआ पितृ-गृह सदैव मेरे स्वप्नों में आता रहता है। ८७।

तुम्हारा साथ और सृष्टि का निरंकुश स्वामित्व अच्छा

है परन्तु अपने सगे-सम्बन्धियों से दूर रहने का दुःख किसी प्रकार भी नहीं भुलाया जाता । ८८ ।

जितना मुझसे हो सका उतना मैंने सुख दिया है परन्तु हे स्वामिन् ! मुझे अब जाने की आज्ञा दो और आप अपने नित्य कर्म में लगो । ८९ ।

कण्डु उवाच—हे प्रम्लोचे ! मैं तुझे कैसे जाने दूँगा ? जैसे आँख जाने से अन्धा मनुष्य असहाय हो जाता है वैसे ही तुम्हारे जाने से मैं हो जाऊँगा । इसलिए सुभगे ! तू रह जा । ९० ।

हे सुकेशी ! मैं तपस्वी हूँ, तू मेरी प्रार्थना पर ध्यान नहीं देती तो मैं तुझे आज्ञा देता हूँ और यदि तूने उसे नहीं माना तो मैं तुझे शाप दूँगा । इसलिए तू रह जा । ९१ ।

पाराशर उवाच—इस प्रकार पुनः-पुनः प्रार्थित प्रम्लोचा याचक पर तरस खाकर और शाप से भयभीत होकर मुनि के साथ रहने को राजी हुई । ९२ ।

हे मैत्रेय ! यों ही एक दूसरे के साथ रहते और विहार करते उन मुनि और अप्सरा ने दूसरे सौ वर्ष और बिताये।९३।

उन सौ वर्षों में भी वे विना दिन और रात तथा ऋतु और स्थान की परवाह किये निरन्तर आनन्द का अनुभव करते रहे । ९४ ।

दो शरीरों में एक ही प्राण, दो दीपकों में एक ही ज्योति और दो भुवनों में ही एक ही सूर्य जैसा उनका साहचर्य देवताओं को भी दुर्लभ था । ९५ ।

प्रतिदिन प्रातःकाल प्रम्लोचा को देखकर अर्घ्य देते हुए

मुनि की प्रीति बढ़ती गई जैसे कि सविता के प्रति भक्ति बढ़ती है। ९६।

दूसरे सौ वर्ष पूरे होने पर अपने घर जाने को उत्सुक अप्सरा ने फिर आज्ञा माँगी पर आसक्ति के बल और शाप की धाक से मुनि ने उसे न जाने दिया। ९७।

इस प्रकार जब-जब वह स्त्री स्वर्ग जाने की इच्छा करती तब-तब ऋषि उससे 'ठहरो-ठहरो' कहकर रोक देते। ९८।

भय के कारण सदा दूसरों की मर्जी के मुताबिक चलने और पुरुष के याचना करने पर 'ना' न कहने के स्वभाववाली उस स्त्री ने ऋषि का त्याग नहीं किया। ९९।

ऋषिवर्य और अप्सरा के अन्तःकरण परस्पर के आकर्षण से पागल से होने लगे और रात-दिन रमण करते-करते उनके मन में प्रेम की नई-नई भावनाएँ उत्पन्न होने लगीं। १००।

हे मैत्रेय ! एक दूसरे के हाथ में हाथ डालकर मूक वार्तालाप करना और एक दूसरे की आँखों में आँख डालकर संभाषण जैसा ही सन्तोष प्राप्त करना। १०१।

एक दूसरे के शरीर-स्पर्श से परम आनन्द प्राप्त करना और एक दूसरे का स्वर सुनकर अवर्णनीय उल्लास अनुभव करना। १०२।

एक दूसरे की गोद में सोकर एक दूसरे के नयनों को अर्घ्य देते हुए सूर्य देवता को भूलना और एक दूसरे को भुजाओं में लेकर भिन्न होते हुए भी अभिन्नता का अनुभव करना। १०३।

एक दूसरे के अधर पर अधर रखकर सुधा की सरिता में अवगाहन करना, * । १०४ ।

हे मैत्रेय ! ये सब विलास कण्डु मुनि ने खोजे और ये सब प्रथाएँ इस सर्वशास्त्रज्ञ की बुद्धि द्वारा स्थापित हुईं । हे तपस्वी ! तुम इसे निश्चय जानना । १०५ ।

संध्यासमय गिरि-शृंग पर अस्त होते अर्द्धचन्द्र की शोभा में अप्सरा को अंक में लेकर बैठे हुए मुनि ऐसे लगते जैसे पर्वत-दुहिता को रिझाते हुए शंकर । १०६ ।

ज्योत्स्ना से शुभ्र बनी मध्य रात्रि में बाँस की शय्या पर पड़ी प्रम्लोचा से पैर दबवाते हुए उस रति-क्रीड़ा से श्लथ ज्ञानी की शोभा शेषशायी विष्णु की शोभा को भी भुलवाने लगी । १०७ ।

प्रभातकाल में अप्सरा को पकड़ने के लिए दौड़ते ऋषि सरस्वती के पीछे दौड़ते ब्रह्मा के वीरतापूर्ण उत्साह की अद्वितीय छवि को छीनते जान पड़े । १०८ ।

जब इस प्रकार चार शताब्दियाँ बीत गईं तो अप्सरा की अनुपस्थिति से क्रुद्ध इन्द्र ने एक दूत भेजकर प्रम्लोचा को देव-लोक वापस आने की आज्ञा दी । १०९ ।

दूत उवाच—हे प्रम्लोचा ! तेरे विरह में तड़पते-तड़पते और तेरे आने की राह देखते-देखते शतक्रतु का शरीर शुष्क और वदन म्लान हो गया है । ११० ।

---

* इस जगह प्रति फट गई है। ऐसा लगता है कि यदि प्रति यहाँ सही सलामत होती तो अविकल अनुवाद करनेवाले के असिधाराव्रत और आधुनिक युग के प्रकटकर्त्ता के शिष्टाचार की सुहानी भावना के बीच दारुण युद्ध होने की संभावना थी।

परन्तु हे अप्सराओं में श्रेष्ठ ! जब से उन देवों के स्वामी को तेरे मानव के साथ के सम्पर्क का पता चला है तब से उनके विषाद में क्रोध और मिल गया है। १११।

तब से उन शची के पति की आँखें लाल हो रही हैं, भौंहें मिल गई हैं, हृदय धड़कने लगा है और हाथ काँपने लगे हैं। ११२।

और अमरावती का स्वामी आज्ञा देता है कि तुझे देव-लोक वापस आना है और यदि तूने इस आज्ञा का उल्लंघन किया तो तू उस वज्रधारी के भयंकर क्रोध की भागी होगी। ११३।

पाराशर उवाच—यों इन्द्र के क्रोध की वास्तविकता को दूत के मुख से सुनकर प्रम्लोचा थर-थर काँपने लगी और भय से भीत होने लगी। इतना होने पर भी मुनि को छोड़ने के लिए न तैयार वह विरोधी स्वभाव की स्त्री मुनि की बगल में जा छिपी। ११४।

प्रम्लोचा उवाच—हे देवताओं के दूत ! शची के प्रतापी पति को प्रसन्न कर और जाकर कह कि यह प्रम्लोचा अभी आपकी सेवा में उपस्थित होकर कृतार्थ होती है। ११५।

पाराशर उवाच—अप्सरा के शब्दों को सुनकर जिनके रोंगटे क्रोध से खड़े हो गये थे ऐसे कण्डु मुनि लम्बी आह भर-कर इस प्रकार कहने लगे। ११६।

कण्डु उवाच—हे निर्लज्ज ! तू फिर देवलोक में जाना चाहती है, यह सुनकर मेरे क्रोध को आहुति मिलती है। तेरे लिए सर्वस्व छोड़ दिया फिर भी तू मुझे छोड़ना चाहती है।

इसलिए हे प्रम्लोचा ! मैं तुझे शाप देने के लिए उद्यत हुआ हूँ। ११७।

तू मुझे छोड़कर इन्द्र के पास जाने के विचार से आनन्दित होगी पर मैं तुझ कृतघ्नी को यहाँ से जाने के पहले ही अपने तप के प्रभाव से जलाकर खाक कर दूँगा। ११८।

पाराशर उवाच—कण्डु के इन वचनों को सुनकर वह अप्सरा स्त्री के स्वार्थी स्वभाव के अनुसार यह निर्णय करने में असमर्थ होने के कारण कि दोनों में से किस दुःख को अंगीकार करूँ, आँसू बहाकर रोने लगी। ११९।

उसे भय से त्रस्त और दुःख से रोती देखकर उन तपस्वी महाशय के अन्तःकरण में दया का संचार हुआ। १२०।

कण्डु उवाच—हे अप्सरा! रात-दिन आनन्द प्राप्त करते हमने कालयापन किया है। हे सुन्दरी ! देवलोक में इन्द्र के तो अनेक साथी हैं पर मेरे लिए तू अकेली ही सहचरी है अतएव रह जा। १२१।

पाराशर उवाच—निर्णय करने में असमर्थ उस अस्थिरचित्त अप्सरा ने अन्त में कण्डु मुनि के ही साथ रहने और इन्द्र के कोप की अवहेलना करने का निश्चय किया। १२२।

हे मैत्रेय ! इससे तुझे स्त्रीजाति के चरित्र का पूरा-पूरा परिचय मिलेगा। हे तपोधन ! इन्द्र के पास जाना स्थगित कर वह अप्सरा मुनि को अधःपतित करने के लिए उसी के पास रही। १२३।

उसके बाद एक दूसरे में ही जिनके प्राण समाये हुए

थे ऐसे वे ऋषि और अप्सरा पहले की तरह स्वेच्छा से विहार करने लगे। १२४।

मैत्रेय उवाच—हे मुनियों में श्रेष्ठ ! इसके बाद उन दोनों का क्या हुआ, यह हमें बताइए। इस वृत्तान्त को सुनने के लिए हम आतुर हो रहे हैं। प्रसन्न हूजिए हे पाराशर। १२५।

पाराशर उवाच—बहुत समय बीतने पर एक दिन वे मुनि तेजी के साथ अपनी झोंपड़ी से बाहर निकले तो प्रम्लोचा ने पूछा कि आप कहाँ जाते हैं ?। १२६।

कण्डु उवाच—हे प्रिये ! सूर्यास्त होने लगा है इसलिए मुझे सन्ध्योपासना करनी चाहिए। शास्त्रों का वचन है कि यदि तपस्वी अपना नित्य कर्म न करे तो उसके कर्मों का सदा को लोप होता है। १२७।

पाराशर उवाच—कण्डु मुनि के इन वचनों को श्रवण करनेवाली अप्सरा प्रम्लोचा ने अपने मद और आलसभरे नयनों को वैसे ही विकसित करके जैसे कि सूर्य कमल को विकसित करता है, हँसकर यह कहा। १२८।

प्रम्लोचा उवाच—हे सर्वशास्त्रज्ञ ! क्या आज ही आपको संध्याकाल आता दिखाई दिया ? ठीक है भगवन् ! कितने ही वर्ष बीतने पर आपको एक ही दिन ऐसा लगा, यह देखकर मुझे आश्चर्य होता है। १२९।

कण्डु उवाच—हे भद्रे ! आज प्रातःकाल तू नदीतट पर आई थी, उसके बाद तू मेरे आश्रम में आई और अब संध्याकाल हुआ है। फिर भी तू असत्य भाषण करके मेरा मजाक क्यों उड़ाती है ?। १३०।

प्रम्लोचा उवाच—हे ब्रह्मन् ! तुम्हारा यह कहना कि मैं प्रातःकाल आई, सच है। लेकिन उस प्रातःकाल को आज सैकड़ों वर्ष बीत गये। हे मुनि ! प्रेम के उल्लास में सैकड़ों वर्ष क्षण के समान लगते हैं। १३१।

पाराशर उवाच—उस अप्सरा को ऐसा कहते देखकर उस तपोधन मुनि के हृदय में भय उत्पन्न हुआ और उसे यह ज्ञान होने लगा कि उसने इस नारी के पाप से विषय-सुख में वर्षों लीन रहकर अपने कर्म का लोप कर दिया है। १३२।

कण्डु उवाच—असत्य बोलना ही जिसका स्वभाव है ऐसी ओ स्त्री ! क्या तू सत्य कहती है ? कितने वर्ष से मैं कर्म का लोप किये हूँ ? मुझे तो ऐसा लगता है कि मैं एक ही दिन ऐसे रहा हूँ। १३३।

पाराशर उवाच—मुनि के इन वचनों को सुनकर मुनि के छोड़ देने और झूठ बोलने पर शाप की भागी होने के भय से व्यथित वह सत्यवादिनी अप्सरा हाथ जोड़कर यों कहने लगी। १३४।

प्रम्लोचा उवाच—भगवन् ! नौ सौ सतासी वर्ष छः महीने तीन दिन हमें साथ-साथ विहार करते बीते हैं। अब जब मेरे ऊपर आपकी प्रीति कम हुई है तब आपको समय का ध्यान आया है। प्रेमियों को समय का भान नहीं होता। १३५।

पाराशर उवाच—जिसकी कर्तव्यपरायणता सतेज हो चुकी थी और जिसे स्त्रीजाति की अधमता का ज्ञान हो चुका था ऐसा वह तपस्वी "मुझे धिक्कार है, मुझे धिक्कार है" कह-कर अपनी निन्दा करने लगा। १३६।

कण्डु उवाच—हे कुटिल ! क्या मुझे समय का भान नहीं रहा ? क्या मैंने सैकड़ों वर्ष तक कर्म का लोप किया ? मैंने यह सब तेरे लिए किया इसलिए तुझे भी धिक्कार है। १३७।

मेरी तपश्चर्या नष्ट हुई। ब्रह्मवादी का ज्ञान और विवेक नाश को प्राप्त हुआ। मुझे मोहग्रस्त करने के लिए तुझे किसने बनाया होगा ?। १३८।

क्षुधा, तृष्णा, शोक, मोह, जरा और मृत्यु—इन छः भावनाओं का अतिक्रमण करनेवाला मैं अपने मन को वश में करके परब्रह्म का मार्ग ले रहा था लेकिन धिक्कार है तुझे कि तूने मेरे जैसे शुद्ध हृदय तपस्वी को उस मार्ग से पीछे खींच लिया। १३९।

पाराशर उवाच—मुनि के ऐसे वचनों को सुनकर भय में भी अपने कपटी स्वभाव को न छोड़नेवाली उस अप्सरा ने काँपते शरीर और साश्रु नयनों से कहा। १४०।

प्रम्लोचा उवाच—हे भगवन् ! मैंने क्या अपराध किया है कि आप गुस्सा हो रहे हैं ? आपके आग्रह से आपका दुःख मिटाने के लिए मैंने आपके साथ विचरण किया, एकाकी सृष्टि में आपको दुःख का सामना न करना पड़े इसके लिए मैंने अपना घर और स्वजन त्यागे, आपको रिझाने के लिए मैंने क्रुद्ध होते इन्द्र की भी अवहेलना की। १४१।

हे ब्रह्मन् ! जितना आनन्द इन्द्रियों के दमन और ब्रह्म-मार्ग के आचरण से भी आपको नहीं मिला था उससे अनेक गुना अधिक आनन्द मेरे साहचर्य से आपको मिला। १४२।

मैंने अपना सर्वस्व आपके लिए छोड़ा पर आपने अपनी

कष्टप्रद तपश्चर्या मेरे लिए न छोड़कर मेरे संग से मिलनेवाले आनन्द के लिए छोड़ी। हे मुनि ! इसमें मेरा क्या दोष है ?। १४३।

अपने स्वजनों से दूर और इन्द्र द्वारा बहिष्कृत मैं निराधार और सगर्भा हूँ। ऐसी स्थिति में मैं कहाँ जाऊँ ?। १४४।

पाराशर उवाच—अनृतभाषिणी अप्सरा ने ये कपटमय वचन इस कारण से कहे कि मुनि किसी प्रकार तो उसे रख लें। १४५।

कण्डु उवाच—हे दुष्टा ! नरक की ओर ले जानेवाले तेरे संग से वेदविद्या की प्राप्ति में साधनभूत मेरे ब्रह्मचर्यादिक व्रतों का नाश हुआ है। फिर भी तू ऐसा धृष्ट संभाषण करती है। १४६।

तूने मेरे सारे तप का नाश कर डाला है। इसलिए तू अमंगल जैसी भयंकर मोह की पिटारी मात्र है। तुझे अनेकानेक धिक्कार है। १४७।

स्त्री से अज्ञात मुझको क्या खबर थी कि नारी ऐसी कपटी और दुष्टा होती है और उसकी संगत से मेरे जैसा तपोनिधि भी इतना पतित हो जायगा। १४८।

हे स्त्री ! मेरे जैसे तपस्वी के साथ गाढ़ सम्बन्ध से पुनीत होनेवाली तुझको मैं अपने क्रोध की अग्नि से जलाकर भस्म नहीं करता क्योंकि सज्जन के साथ सात डग चलने से ही वह मित्र हो जाता है, उसमें तू तो बहुत वर्षों तक मेरे साथ रही है। १४९।

हे पापिनी ! मुझे तेरी या तेरे गर्भ की परवाह नहीं।

तू जहाँ जाना चाहे वहाँ जा। तूने अपने हाव-भाव, रूप और चेष्टा द्वारा मेरा अकल्याण किया है। १५०।

परन्तु हे पापिनी! मैं अपने ज्ञानचक्षुओं से यह देख रहा हूँ कि तेरे गर्भ से तेरे ही जैसी अधम और पापिनी स्त्री का वंश बढ़ेगा इसलिए भावी सन्तान के उद्धार के लिए मैं चेतावनी देता हूँ। १५१।

पाराशर उवाच—कर्म और स्त्रीस्वभाव ज्ञान प्राप्त करनेवाले वे मुनि स्त्रियों को इस प्रकार शाप देने लगे। १५२।

कण्डु उवाच—जहाँ-जहाँ स्त्री रहेगी वहाँ-वहाँ नरक के द्वार खुले रहेंगे, विनाश होगा और बुद्धि का नाश होगा। १५३।

जहाँ स्त्री का सहवास होगा वहाँ संयम न रहेगा। जहाँ स्त्री पर प्रीति होगी वहाँ ब्रह्मचर्य न रहेगा। जहाँ स्त्री सेवा करेगी वहाँ देह-दमन, नीति और व्रत का लोप हो जायगा। जहाँ स्त्री का हास्य सुनाई देगा वहाँ ब्रह्मज्ञान अदृष्ट हो जायगा। १५४।

जिस आत्मा को ब्रह्ममय रहना हो उसे अवतार न लेना चाहिए क्योंकि स्त्री के विना अवतार न होगा और जिसे अवतार लेकर शुद्ध रहना हो उसे देह के साथ आनन्द की आशा न रखनी चाहिए क्योंकि स्त्री सरलता से क्षणिक आनन्द दे सकती है। १५५।

जिसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना हो, जिसे महान् कार्य का आरंभ करना हो, जिसे ज्ञान और धर्म का प्रचार करना हो

उसे स्त्री का संग नहीं करना चाहिए और यदि हो जाय तो कभी यह नहीं मानना चाहिए कि वह रुचिकर है। १५६।

पाराशर उवाच—हे मैत्रेय ! इस प्रकार उन परम कृपालु कण्डु मुनि ने शाप देकर उस कुटिल अप्सरा को जाने की आज्ञा दी। १५७।

ऋषि के उग्र शाप से त्रस्त और अपने प्रयोजन के निष्फल होने से निराश हुई प्रम्लोचा ने निराधार होकर आह पर आह भरना शुरू किया। १५८।

बहुत वर्षों के आनन्द से अच्छा लगनेवाला आश्रम छोड़ते हुए मुनि से तिरस्कृत उस अप्सरा का हृदय फटने लगा। १५९।

उस आश्रम को छोड़ते समय जिस स्थान पर उसकी दृष्टि पड़ती उसी की स्मृतियाँ सजीव हो जातीं और वैसा होते ही उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगती। १६०।

मैत्रेय उवाच—हे पाराशर ! उसके बाद मुनि द्वारा तिरस्कृत प्रम्लोचा का क्या हुआ यह हमसे कहो, जिससे कि हमारी जिज्ञासा संतुष्ट हो। १६१।

पाराशर उवाच—प्रम्लोचा की कथा ध्यानपूर्वक सुनो। हे मैत्रेय ! मुनि द्वारा इस प्रकार तिरस्कृत होकर वह अप्सरा अन्तरिक्ष के मार्ग से स्वर्ग जाने लगी। १६२।

जिसका स्वभाव ही दया उत्पन्न कराके अपना काम बनाने का है ऐसी वह अप्सरा आह भरकर चारों ओर ऐसे देखने लगी मानो बड़ी दुखी हो। १६३।

स्त्रियों के स्वभाव से अपरिचित और कण्डु मुनि की महत्ता की परीक्षा करने में असमर्थ जड़ सृष्टि को उस अप्सरा को इस प्रकार आहें भरते देख दया आ गई। १६४।

इस कुटिल अप्सरा का क्रन्दन न सुन सकने और ऋषि के क्रोध के कारण भयाकुल होने से व्योम ने मेघों द्वारा मुँह ढक लिया। १६५।

मरुतों ने इकट्ठे होकर मंद और खेदयुक्त सिसकी से दसों दिशाएँ शोकपूर्ण कर डालीं और वेग से बहती गोमती दयार्द्र अन्तर में व्यथा का अनुभव करती हुई क्षण भर के लिए स्तम्भित हो गई। १६६।

अप्सरा ज्यों-ज्यों अन्तरिक्ष में जाने लगी त्यों-त्यों भय के कारण ऋषि द्वारा उसके शरीर में स्थापित गर्भ पसीने के रास्ते बाहर निकलने लगा। १६७।

वृक्षों ने आर्द्र हुई पल्लवकरांगुलियों से उन गर्भ-बिन्दुओं को सँभाला और दुःखिनी की सहायतार्थ तत्पर वायु ने उनको इकट्ठा किया। १६८।

आर्द्रता जिसका परम लक्षण है ऐसे सोम ने अपनी अमृतमय किरणों से उस गर्भ का पोषण किया और इस प्रकार वृक्षाग्र के गर्भाशय में से मारिषा नाम की अपूर्व कन्या उत्पन्न हुई। १६९।

सोम ने इस वार्क्ष्येयी मारिषा को दस प्रचेताओं से ब्याहा और उससे दक्ष प्रजापति का जन्म हुआ, जो ब्रह्मा के पुत्र हुए। १७०।

हे मैत्रेय! जिन्होंने स्त्री की अधमता समझी है और

जिन्होंने स्त्री का त्याग किया है ऐसे वे महात्मा कण्डु मुनि सृष्टि के एकमात्र भोक्ता बनकर निरंकुशतापूर्वक जप, तप, शम और दम से इस संसार में मृतप्राय हो गये। १७१।

हे मैत्रेय ! जो ज्ञानी संसार के समस्त सुखों को त्यागकर मरे के समान जीता है उसे ही आगे के जन्म में सुख मिलता है, ऐसा वेदविदों का वचन है। १७२।

इस प्रकार समस्त सुखों का त्याग करनेवाले, प्रम्लोचा के साहचर्य की स्मृति के विकार को भी वश में करनेवाले और तप से देह को गला देनेवाले उस मुनि का अन्त में विष्णुलोक में वास हुआ। १७३।

हे मैत्रेय ! इस प्रकार ब्रह्मचर्य के आद्य प्रतिपादक, स्त्री के द्वेष्टा और मुनियों में श्रेष्ठ कण्डु मुनि का आख्यान मैंने तुमको श्रवण कराया। इस आख्यान का रहस्य मैं संक्षेप में कहता हूँ सो सुनो। १७४।

सब जीव स्त्री से उत्पन्न होते हैं। ये सब क्षणिक आनंद उसके साहचर्य से उत्पन्न होते हैं। स्त्री से ही जीवन है—ऐसा विबुध कह गये हैं। १७५।

इसलिए ब्रह्म को पानेवाले और तप को महत्त्व देनेवाले ज्ञानी को इस देह से मृत्यु समान जीवन पसंद करके सदैव स्त्री का त्याग करना चाहिए। १७६।

इति श्रीविष्णुपुराणे प्रथम भागे पंचदश अध्याय अन्तर्गत कण्डु आख्यान सम्पूर्ण।

भावी सम्पादकों के लिए

मान्य भाई श्री रायचुरा ने सम्पादक-अंक के लिए कुछ लिखने का निमंत्रण भेजा है। उनसे मना किया नहीं जा सकता और क्या लिखूँ, यह समझ में नहीं आता। सम्पादकों का अंक कैसे हो सकता है ? स्वदेशे पूज्यते राजा कि नहीं ? हरएक सम्पादक अपने पत्र में राजा क्यों नहीं है ? इन सबको इकट्ठा करने से क्या लाभ है ? यदि उनके इकट्ठे करने का वही परिणाम हो जो कि नवग्रहों के इकट्ठे होने का होता है तो ? ऐसे विचारों के भँवर में यह नहीं सूझता कि क्या लिखूँ ?

अब कुछ मौलिक विचार दिये जाते हैं। मनुष्य सम्पादक क्यों बनता है ? कुछ लोग समझते हैं कि ईश्वर ने उन्हें कोई विशिष्ट मंत्र देकर पैदा किया है इसलिए वे उस मंत्र का प्रचार करने के लिए सम्पादक बनते हैं। कुछ का विचार है कि उनके जैसों की सेवा के विना जनता दुःख से मरी जा रही है इसलिए वे इस कमी को पूरा करने के लिए इस पद को

स्वीकार करते हैं। कुछ को अपने लेखों को छपा देखने की इच्छा होती है। कुछ को मित्रों की सहायता करनी होती है और शत्रुओं को लज्जित करना होता है। कुछ को उदीयमान लेखकों को जलाने की आकांक्षा होती है। कुछ को बड़े लेखकों से दोस्ती जोड़ने की इच्छा होती है। कुछ को ऐसा लगता है कि उनके विना विद्वानों और प्रजा का जीवन बिलकुल सूना हो जायगा। कुछ को ऐसा प्रतीत होता है कि उनके विज्ञापनदाताओं का क्या होगा? कुछ को पैसा कमाने का मन होता है। कुछ को पैसा बिगाड़ने का चाव होता है।

इन सबका वैज्ञानिक दृष्टि से भी वर्गीकरण हो सकता है। बायोलॉजी और जुओलॉजी (प्राणिशास्त्र) की भाँति सम्पादक-कोलॉजी—सम्पादकशास्त्र—की भी विशेष आवश्यकता है और जब तक अनेक सम्पादन-कला-विशारद सतत अभ्यास द्वारा इस मानव-जन्तु के प्रकार का निश्चय नहीं करते तब तक ज्ञान के इस महान् विषय के अछूते रह जाने का भय बना ही रहेगा। उसके लिए यहाँ कुछ रूपरेखा प्रस्तुत करना अनुचित न होगा।

सम्पादक से अभिप्राय उस व्यक्ति से है जो निरभिमानी वृत्ति से अपनी महत्ता को जन्मसिद्ध मानकर दूसरों के विचारों को अपनी आज्ञानुसार प्रकट कराने का अधिकार रखता है।

सम्पादक दो प्रकार के होते हैं—(१) उच्च और (२) नीच।

(१) ऊँचे प्रकार का सम्पादक अपने को ईश्वर-प्रदत्त सत्ता का अधिकारी मानता है। उसे अपनी लेखनी, सूझ-बूझ,

विद्वत्ता, विवेक और पूर्णता में श्रद्धा होती है। वह हरएक विषय और हरएक लेख पर अपने मन्तव्य को ही ब्रह्म-वाक्य समझता है।

(२) नीचे प्रकार के सम्पादक की मान्यता होती है कि उसकी सेवा से दुनिया का बेड़ा पार हो गया है। उसे अपनी दुनिया विशेषकर अपने पाठकों की साधारण बुद्धि, अज्ञान, अशक्ति और जड़ता का अत्यंत गहन अनुभव होता है। उसे सदा यह भय रहता है कि यदि किसी प्रश्न के हल करने में उसकी सम्मति न ली गई तो उसका हल होना कठिन है।

उच्च सम्पादक बड़ा अकड़ू होता है तो नीच सम्पादक के अहंकार की सीमा नहीं होती। उच्च सम्पादक सबके लेखों को घृणा की दृष्टि से देखता है तो नीच सम्पादक उनकी ओर ममत्वपूर्ण कृपा की दृष्टि रखता है। उच्च सम्पादक पाठकों को बुद्धिहीन और मूर्ख समझता है तो नीच सम्पादक उनको भोलाभाला और कान का कच्चा समझता है।

दोनों प्रकार के सम्पादकों के मन में दो प्रकार की दुनिया होती है—अच्छी और बुरी और दो प्रकार के विचार होते हैं—अच्छे और बुरे। जिससे उनके पत्र का लाभ हो वह अच्छी दुनिया—शेष सब बुरी। जो विचार उनके लिए उपयोगी हों वे अच्छे—शेष सब बुरे।

लेखकों की दृष्टि से सम्पादक तीन प्रकार के होते हैं—

१—जो लेखकों की अवहेलना करें।

२—जो लेखकों के साथ सम्पर्क बढ़ायें।

३—जो लेखकों की खुशामद करें।

जो लेखकों की अवहेलना करते हैं उनको आवश्यकता के अनुसार लेख मिल जाते हैं। जो लेखकों के साथ सम्पर्क स्थापित करते हैं उन्हें बड़ी मुश्किल से लेख मिलते हैं। जो लेखकों की खुशामद करते हैं उन्हें एक भी लेख मिलना मुश्किल हो जाता है। लेकिन पहला सम्पादक अप्रिय होता है, दूसरे सम्पादक को कोई कुछ समझता ही नहीं और तीसरे का जय-जयकार होता है। इस विचित्रता के मूल में कौन-सा महान् तत्त्व है, यह भावी सम्पादकों की खोज का विषय है।

सम्पादकों का एक प्रकार पाठकों के विरुद्ध जाता है, दूसरा उनको रिझाने के लिए घोर तप करता है, तीसरा अपने को मदारी समझता है और पाठकवृन्द को हजार सरोंवाला रीछ, चौथा उनको छोटे बच्चों की पाठशाला समझकर अपने को सातवें दर्जे का शिक्षक मानता है।

इसके अतिरिक्त सम्पादकों के स्वभाव, विशेषता, रुचि, दृष्टिकोण आदि अनेक विषयों का विवेचन किया जा सकता है। भय एक ही है कि यदि मैं अधिक लिख दूँगा तो भावी सम्पादको लॉजिस्टस क्या करेंगे? इस समय तो केवल यही हो सकता है कि जैसे वैज्ञानिक लगाये हुए बाग के प्रत्येक पेड़ पर तख्ती लगा देता है वैसे ही गांधी से लेकर अपने होस्टल की हस्तलिखित चारपेजी पत्रिका के सम्पादक गांडा भाई तक प्रत्येक पर चिट चिपका दी जाय और अपनी चिट तैयार करने का कार्य स्वयं सम्पादकों को सौंप दिया जाय। चिट तैयार करने के कार्य को सरल बनाने की दृष्टि से नीचे कुछ नमूने—क्षमायाचना सहित—प्रस्तुत करता हूँ—

१—प्रकार—उच्च या नीच।
२—लेखकों के प्रति दृष्टिकोण।
३—पाठकों के प्रति दृष्टिकोण।
४—सम्पादक होने का उद्देश्य।
५—आदि-आदि।

विशेष—चिट भरनेवाले को लज्जावश अपने प्रति अन्याय नहीं करना चाहिए।

प्रत्येक सम्पादक पृथ्वी पर प्रलय करने की इच्छा से कार्य आरंभ करता है, कुछ समय बाद जब वह देखता है कि समुद्र में न तो एक भी बूँद घटी है न बढ़ी तो आश्चर्यान्वित होता है, फिर मानवजाति की कृतघ्नता की ओर घृणा से देखता है और अन्त में आत्मसन्तोषी बनकर न तो प्रलय की चिन्ता करता है और न उसकी इच्छा। पहले दो वर्षों में वह दुनिया का सुधार करने को उत्सुक रहता है परन्तु शेष जीवन में वह बिना इस बात की चिन्ता किये कि दुनिया सुधरती है या नहीं, धृष्ट बनकर जीता है।

सम्पादक के ज्ञान की सीमा नहीं हो सकती। पाठकों को लगना चाहिए कि वह मंगलग्रह से लेकर पागल कुत्ते को मारने की विधि तक हरएक बात जानता है। यदि पाठक को ऐसा न लगे तो समझ लो कि सम्पादक ज्ञानी नहीं है। यह निर्विवाद है कि जब तक यह कला हाथ न आ जाय तब तक सम्पादक का पद स्वीकार करने का खतरा मोल लेनेवाला सम्पादक होने योग्य नहीं है।

सम्पादक के लिए एक ही सामग्री की आवश्यकता है

और वह है रद्दी की टोकरी। यदि यह टोकरी बड़ी न हो तो समझ लो कि सम्पादक का जीवन संकट में है। यदि यह टोकरी भरी न हो तो सम्पादक नये लेखकों, उदीयमान कवियों और विद्वत्ता के अजीर्ण से घबराये हुए विद्वानों की कृतियों से दबकर मर जाय और व्यर्थ के लेखों के भार से पृथ्वी के रसातल जाने की संभावना पैदा हो जाय।

सम्पादक में एक और गुण का होना आवश्यक होता है और वह है भुलक्कड़पन। कल उसने क्या लिखा था, इसकी उसे याद नहीं रहनी चाहिए। गत वर्ष किसे महान् बताया था, यह तो भूल ही जाना चाहिए। यदि वह अपने में यह गुण उत्पन्न नहीं करता तो वह बेवकूफ बनता है और अपने तथा पाठकों के दिमाग पर असह्य बोझ डालता है।

सम्पादक व्यक्ति की समानता में विश्वास रखता है परन्तु अपने को छोड़कर औरों की। वह मनुष्यों को भाई मानता है परन्तु अपने को बड़ा भाई और कुटुम्ब का बड़ा-बूढ़ा तथा कर्ता-धर्ता मानने के बाद। सम्पादकों की समझ में यह नहीं आता कि वे आपस में समानता कैसे रखें; क्योंकि उनमें से प्रत्येक को यह विश्वास होता है कि उनका सिंहासन उनकी ही अपनी अभेद्य पूर्णता पर स्थित है।

कितने ही वे लोग, जो सम्पादक होने के लिए ही बने हैं, मानते हैं कि आज तक राज्यों का संचालन तानाशाही, वर्गवाद या लोक-तंत्र की पद्धति पर भले ही होता रहा हो पर भविष्य में समस्त राज्यों का संचालन सम्पादकशाही पद्धति पर ही होगा और देशों की रचना भौगोलिक या राष्ट्रीय

एकता के आधार पर होने के बदले सम्पादकों की हुकूमत के आधार पर होगी। साथ ही हिन्दी, अंग्रेजी आदि के नाम से अभिहित होनेवाले विभागों के स्थान पर लोग 'शारदीय' या 'नवजीवनीय' या 'युगधर्मीय' नाम के विभाग करेंगे। उस समय राष्ट्रीय गौरव का विकास ऐसे ही विभागों में होगा और यदि कभी विग्रह भी होगा तो इन्हीं विभागों के बीच होगा। इसके अतिरिक्त जो एक से ज्यादा सम्पादकों की प्रेरणा से जीवित रहेंगे उनको लोग 'अराष्ट्रीय' अथवा अयोग्य कहकर पुकारेंगे।

सम्पादकों का विकास 'अभीबा' नाम के जन्तु के ढंग पर होता है। 'अभीबा' जन्तु का विकास मादा से नहीं होता। हरएक अभीबा के उचित समय पर दो टुकड़े हो जाते हैं और एक जन्तु दो होकर घूमने लगता है। इन दो के चार होते हैं और इस प्रकार इनका गोत्र बढ़ता जाता है। उसी प्रकार सम्पादक बढ़ते हैं। कुछ वैज्ञानिकों का कहना है कि सम्पादकों का विनाश भी इसी ढंग से होगा। इस प्रकार टुकड़े होते-होते हरएक सम्पादक 'एकोऽहं बहुस्याम्' होता जाता है। कुछ दिनों में एक ऐसी छापे की मशीन निकलेगी जिससे तीन रुपया पाँच आना छः पाई में एक चारपेजी अखबार की एक हजार प्रतियाँ हर रोज छप सकें। इससे प्रत्येक पाठक लेखक हो जायगा और प्रत्येक लेखक सम्पादक। प्रत्येक लेखक रोज अपने पत्र की हजार प्रतियाँ छापा करेगा। वैज्ञानिक खोज से यह क्रिया दिन-प्रतिदिन तीव्र गति से चलती जायगी। प्रत्येक गाँव के प्रत्येक घर में मनुष्यमात्र के

लिए एक-एक पत्र निकलेगा और सम्पादकों की संख्या कीड़ों-मकोड़ों से भी ज्यादा हो जायगी। फिर पाठकवृन्द का लोप हो जायगा और मात्र सम्पादकवर्ग ही रह जायगा। स्वयं अपने ही लेख लिखकर और छापकर प्रकाशित किये जायँगे तथा पढ़े जायँगे। एक दूसरे के पत्रों को पढ़ने का अवसर तो यदा-कदा ऐसे ही प्रसंगों पर आयगा जब कोई सम्पादिका सेठानी रसोइये को 'रसोई जीवन' के १२४०९वें अंक से खाना पकाने का फरमान देगी और रसोइया सम्पादक 'पाक-विद्या' के ३४६२१वें अंक से भोजन के समय का सूचना देगा। होते-होते मनुष्य-जाति सम्पादक-जाति के नाम से पुकारी जाने लगेगी। धर्म का स्वरूप 'अहं ब्रह्मास्मि' के बदले 'अहं सम्पादकोस्मि' का जाप होगा और वैज्ञानिकों के पास कागज और मुद्रणयंत्र बनाने के अतिरिक्त और कोई काम न रहेगा।

अन्त में सम्पादक के पद पर पहुँची हुई जनता कागज और यंत्रों के अभाव में निर्वीर्य और हताश हो जायगी और सम्पादक आत्म-शक्तिरहित होने से भग्न-हृदय हो जायगा। उसके बाद 'सम्पादकनाश' नामक वह विक्रमसंवत् आवेगा जब समस्त जनता का नाश हो जायगा। और जब इस संवत् में सिंहराशि के शनि होंगे तब अंतिम सम्पादक टूटी हुई मशीन और रद्दी कागजों के ढेर पर अपनी सूझती आँख से सम्पादकीय आँसू बहाता हुआ इस शरीर को छोड़कर 'सम्पादकहीन' संसार का त्याग करेगा।

———

वैकुण्ठ से वृन्दावन

वैकुण्ठ में सूर्यनारायण प्रसन्नता से तप रहे थे।

वैकुण्ठ के उद्यान में एक स्वर्गीय पीपल के नाचे रत्नजटित आसन पर लक्ष्मीजी बैठी थीं। सृष्टि की अनन्त निधियों के स्वामी की स्त्री को जैसा होना चाहिए वैसे ही वे सोने से मढ़ी थीं। एक अंडे जैसे मोती की नथ उनकी नाक में झूल रही थी।

उनके सामने सरस्वतीजी मुँह बनाये काठ की-सी वीणा लिये खड़ी थीं। ऐसा लगता था जैसे कोई पुराना प्रतिस्पर्धी अपनी पैसेवाली पड़ोसिन के ठाट देखने आया हो। हीरे से मढ़ी हुई नन्ही सी रसमयी कोकिल पीपल की डाली से अपनी सरस कूक द्वारा रस की धारा बहा रही थी।

"क्यों?" गर्व से लक्ष्मीजी बोलीं, "अभी तुम्हारे भक्त शेष हैं?"

आहत अभिमान से सरस्वतीजी ने जवाब दिया—"हमें कौन पूछता है? आज तो जिसका घरवाला है वही गौरव-शाली है।"

"मालूम है ?" लक्ष्मीजी ने जरा नखरे से पूछा और गर्वोच्छ्वास से उनकी नाक का मोती हिलने लगा। "खबर आई है कि अभी-अभी तुम्हारे एक लाख अट्ठाईस हजार तीन सौ नौ भक्तों ने मेरी सेवा स्वीकार की है।"

"अन्तिम सन्देश मैंने पढ़ा है", तिरस्कार से सरस्वतीजी बोलीं, "मुझे तो ऐसा लगता है जैसे मैं देखते-देखते अपूज हो जाऊँगी। मुख पर मेरा नाम रखनेवाले भी अन्तर में तो तुम्हारा ही नाम रटते हैं। मुझे संतोष यही है"—

"क्या ?"

"मेरी पूजा के नष्ट होते ही पृथ्वी पर जीने योग्य कुछ न रहेगा।"

"ओहो !" नारायण की पटरानी बोलीं, "चलो तुमने अभिमान करना तो सीखा।"

सरस्वतीजी ने गुस्से से हाथ को झटका देते हुए कहा— "क्या अब मेरे पास करने के लिए यही रह गया है ?"

जैसे कोई बड़ा हवाई जहाज फरफराता हुआ आता है ऐसी आवाज हुई। बादल घिरे, गरुड़जी उड़ते हुए आये, छत पर आकर खड़े हुए और सोने-से दमकते हुए उसके कन्धों से भगवान् उतरे।

विष्णु भगवान् का भ्रूभंग भयंकर था। जिस हाथ में उन्होंने गदा ले रखी थी वह काँप रहा था। कमलनयनों से लाल चिनगारियाँ फूट रही थीं। राधा के प्यासे होठ गुस्से से दबे हुए थे।

लक्ष्मीजी उनकी ओर मुड़ीं और जैसा कि त्रिलोकाधि-

पति की स्त्री के लिए उचित है वैसे ही लापरवाही से उनके गुस्से को देखने लगीं। वे ऐसी मूर्ख न थीं जो अपने घरवाले के गुस्से जैसी मामूली बात से घबरा जातीं।

"त्रिलोकनाथ!" सरस्वती ने जरा मजाक में पूछा, "आज पारा कैसे चढ़ा हुआ है?"

बिना कुछ बोले नयनों को एकाग्र करके विष्णु ने ऐसे तीन डग भरे जैसे कि राजा बलि को नीचा दिखाने को भरे थे। मुँह से पांचजन्य लगाया और शंखनाद किया।

तबेले में जाकर गरुड़ों के साथ गप्पें मारते बैठे गरुड़जी पल भर में हाथ जोड़े आ खड़े हुए। वृद्ध वैनतेय की पाँखें ढीली पड़ी दिखाई देती थीं—"कृपानाथ!"

"गरुड़!"

"अन्नदाता!"

"उस राधा को भेज।"

लक्ष्मीजी घृणा से हँसीं। इस हँसी से भगवान्‌जी की आँखों के कमल लाल कन्नेर हो गये। सुदर्शनवाला हाथ गुस्से से काँपने लगा।

"क्या होने को है?" त्रिभुवन के नाथ बड़बड़ाये।

"गर्विता स्त्री के सामने कब किसी की चली है?"

"क्या है?" सरस्वती ने पूछा।

"क्या-क्या? तू बिलकुल निकम्मी है—वह राधा तुझसे ज्यादा निकम्मी है और यह—" लक्ष्मी की ओर घूरकर देखते हुए, "मेरी दुनिया को बरबाद करने बैठी है।"

"उँह—यह गुस्सा क्या इसीलिए है?" लक्ष्मी ने चुटकी ली।

"जब मैंने सृष्टि बनाई थी तब इस प्रद्युम्न की माँ से स्पष्ट कह दिया था कि सहस्र मानवों में से दस सरस्वती के और एक राधा का। लेकिन इसके लोभ की सीमा ही नहीं है।"

लक्ष्मीजी ने गर्व से नाक सिकोड़ी—"मैं कोई तुम्हारे बल पर नहीं कूदती।"

"इसीलिए मुझे देखना पड़ता है न? लेकिन क्या होने को है? अब तो हजार के हजार इसी की सेवा करते हैं।"

"मैं भी यही कहती थी न—" सरस्वतीजी ने तिरस्कार से लक्ष्मीजी की ओर देखकर द्वेषी पड़ोसिन की सी सहज मिठास से कहा, "कुछ दिनों में मैं अपूज रह जाऊँगी।"

"कहते हुए शर्म नहीं आती?" गुस्से में वैकुण्ठनाथ ने कहा, "गरुड़ कहाँ गया?"

उन्होंने फिर पांचजन्य फूँका और फिर गरुड़ पंजे मिलाकर आ खड़ा हुआ। "कहाँ चला गया था?"

"राधाजी कहती हैं कि आती हूँ।"

"चल इस वैजयंती को लेकर ठिकाने से रख।" गले में भार-सा अनुभव होने से भगवान् ने माला उतार दी।

"जी।"

इतने में नूपुरों की झंकार सुनाई दी और सोलह वर्ष की राधिकाजी हँसती हुई आ खड़ी हुई। वैकुण्ठ में भी वसन्त आ गया।

"अब तुम अकेले ही यह हिसाब लगाओ, मैं तो चली" लक्ष्मीजी ने गुस्से में कहा।

भगवान् गुस्से से देखते रहे और जगज्जननी ठप्पे के साथ बल खाती हुई चली गईं।

"कैसे हैं?" हँसकर राधिकाजी ने पूछा और उनकी आँखें नाचने लगीं।

"कैसे क्या? मेरा सर।" वैजयन्ती उतारकर पीताम्बर से पसीना पोंछते हुए भगवान् ने कहा।

"कहो तो सही।"

"राधा! मैं थक गया हूँ। ऐसा मन होता है कि महादेव भाई से कहकर इस पृथ्वी का नाश करा दूँ।"

"कराओ, नहीं तो पीड़ा कम नहीं होगी।" सरस्वती तपाक से बोलीं।

"अरे, कहीं ऐसा हो सकता है?" राधिकाजी ने कहा, "फिर मेरे भक्तों का क्या होगा?"

"तेरा कोई भक्त बचा भी है?" आश्चर्य से सरस्वती ने पूछा।

"मेरे तो जितने थे उतने मौजूद हैं।"

"तू तो मूर्ख है। जानती नहीं कि लक्ष्मी पल-पल सृष्टि की मालिक होती जाती है।"

"वैकुण्ठनाथ! यह तुम्हारी भूल है, भूल!" हँसते-हँसते कली जैसे दाँत दिखाते हुए राधिकाजी बोलीं।

"क्यों?"

"जो लक्ष्मी के लाड़ले हैं वे मेरे लिए तरसते हैं, जो सरस्वती के भक्त हैं वे मेरे गुण गाते हैं।"

"हैं!"

"हाँ। और जो मेरे पूजक हैं वे तो हैं ही।"

"सचमुच ? मैं नहीं मानता। लक्ष्मी पृथ्वी पर वैकुण्ठ बसा रही है। उसे कौन छोड़ सकता है ?"

"गोपीजनवल्लभ ! वह भले ही वैकुण्ठ बसावे। क्या आप भूल गये कि आप वैकुण्ठ छोड़कर वृन्दावन आये थे।"

हँसकर राधिकाजी बोलीं। उसके नयन फिर नाचने लगे। वैकुण्ठनाथ के नयन भी हँसे लेकिन फिर भी उन्होंने लम्बी साँस ली।

"हा राधे ! वृन्दावन के समान वन नहीं है और तेरे समान सखी नहीं है।"

"तो जब वृन्दावन हो सकता है तो फिर वैकुण्ठ की किसे परवाह है !"

"राधे ! तेरे वचन मेरे अन्तर में आनन्द का प्रसार करते हैं। सरस्वती मैया ! आपने क्या सोचा ?"

"इसमें मेरा क्या ? पहले राधा के भक्त मेरी सहायता से काव्य और नाटक की रचना करके अपने उद्‌गार प्रकट करते थे। अब टेलीफोन चल गये हैं और लोग खटाक से दो शब्दों में अपने उद्‌गार प्रकट करके प्रियतमा के पास पहुँचा देते हैं। मेरा तो कोई रहा ही नहीं।"

"देखो, सरस्वती मौसी ! ऐसा क्यों कहती हो ? क्या तुम यह भूल गईं कि मैंने उस लाठी के ठाकुर[१] को अपना भक्त होते हुए भी तुम्हारी सेवा में रखा था ?"

१—काठियावाड़ का एक नगर जहाँ गुजराती के प्रसिद्ध कवि कलापी निवास करते थे।

"लेकिन ऐसे कितने हैं?"

"यह बात रहने दे", असमंजस में पड़कर भगवान् बोले, "राधा! तू सच कहती है या झूठ, यह देखना है। चल।"

"कहाँ?"

"नीचे पृथ्वी पर।" हृषीकेश ने पांचजन्य बजाया। गरुड़ आकर खड़ा हो गया। उसका वृद्ध गात्र इतनी कठिन सेवा के डर से काँप रहा था।

"वैजयंती ला। तैयार हो।"

"जी, लीजिए।" गरुड़ जाकर वैजयंती ले आया और भगवान् ने उसे पहन लिया।

"चलो, राधे! गरुड़ पर बैठो।" दोनों गरुड़ पर चढ़े।

"मैं भी चलूँ?" सरस्वती ने पूछा।

"नहीं", मुँह मटकाकर राधा ने कहा, "मैं और नन्दलाल दो ही जायँगे। आप ठहरो चिरकुमारी! जाने हमसे मर्यादा रखी गई कि न रखी गई।" वह हँसी।

गरुड़ ने पंख फड़फड़ाये और उड़ने लगा।

लक्ष्मीजी हाँफती-हाँफती आईं—"वे और राधिका कहाँ गये?"

"पृथ्वी पर—तुम्हारी पराजय देखने।"

"उस हरजाई से कहना कि जरा मुँह धोकर आये," कहकर मुँह बनाते हुए लक्ष्मीजी चली गईं।

राधाकृष्ण गरुड़ की पीठ पर विहार करने लगे। वैकुण्ठ-नाथ ने गरुड़ को अधर में खड़े रहने की आज्ञा दी।

"यह कौनसा देश है भला?" त्रैलोकनाथ ने आँखें मलकर पूछा, "मैं बहुत दिन बाद आया हूँ इसलिए याद नहीं है।"

"यह तो आपके यादवों का आनर्त है।"

"कितना बदल गया है। और यह क्या है?—जैसे सारे का सारा नगर महलों का ही हो।"

"यह मोहनीनगर है। महाआनर्त की राजधानी।"

"यह तो लक्ष्मी का मंदिर है। यहाँ तो लक्ष्मी के भक्त उमड़े पड़ रहे हैं।"

"आपको तो सब जगह लक्ष्मी ही दिखाई देती हैं। चलिए। आपको बताऊँ। गरुड़जी! वह जो तोप जैसा दिखाई दे रहा है वहाँ हमें उतारो।"

गरुड़जी खड़े हो गये और राधा और गोविन्द उतरे।

"आपको देर लगेगी क्या?" खगेश्वर ने पूछा।

"क्यों?" भगवान् ने पूछा।

"मुझे भूख लगी है और उन खन्दकों में एक दो कोमल साँप दिखाई दे रहे हैं।"

"जा, जा," राधा ने हँसकर कहा।

"इन पुराने नौकरों के ये जुल्म बड़े भयंकर हैं।"

"होंगे। अब हमें ऐसा रूप धारण करना चाहिए कि मनुष्य की दृष्टि से हम दिखाई न दें।" राधाजी ने कहा।

"अच्छी बात है।" रसानुभव होने से विट्ठलवर ने स्वीकार कर लिया। दोनों अदृश्य होकर आगे बढ़े।

एक रेवड़ीवाला बैठा था। दूसरा गँड़ेलीवाला बैठा था। उनको छोड़कर वे दैवी डग भरते हुए आगे बढ़े।

दोनों कुछ दूर गये और एक गाड़ी के आगे जाकर खड़े हो गये। गाड़ी में एक गहनों से लदी स्त्री बैठी थी। उसके गर्व का ठिकाना न था। पास ही एक प्रेमी पुरुष खड़ा था। एक का मुँह समुद्र की ओर था, दूसरे का सामने की ओर।

"देखो, यह लक्ष्मीजी का प्रताप है।" राधाजी ने कहा, "ये दोनों जने दस वर्ष तक एक दूसरे में लीन रहे।"

"इस समय तो ऐसा कुछ दिखाई नहीं देता।"

"क्यों दिखाई देगा? पहले ये मिस्टर आठ रुपये की कोठरी में रहते थे और यह देवीजी बर्तन माँजती थीं। रात को दोनों थके-माँदे एक दूसरे के प्रेम में आनन्द लेते थे। दोनों सुखी थे।"

"फिर?"

"फिर क्या? आपकी पटरानी प्रसन्न हुई। इन महाशय ने बेशुमार धन कमाया। ये श्रीमतीजी हीरे-मोती से दिपने लगीं। अब क्लब, पार्टी और जीमखाने के कारण दोनों में से किसी को किसी की परवाह नहीं।"

"मैं कह रहा था न कि लक्ष्मी की विजय हो रही है।"

"बिलकुल गलत है, देखो।"

उस पुरुष ने शान्त आवाज में स्त्री से कहा—"डियर, मैं क्लब जा रहा हूँ।"

स्त्री ने तिरस्कार से जवाब दिया—"Alright (ठीक) जब आओ तब गड़बड़ मत करना। मेरा रात्रि-जागरण हो जाता है।"

"तेरी ब्रिजपार्टी से रात्रि-जागरण नहीं होता ?" पुरुष ने कहा।

"तुम्हारे Dancers (नाचों) जैसा नहीं," स्त्री तपाक से बोली।

भगवान् के मुँह का रंग उड़ गया—"तू कहती है कि ये प्रणयी थे।"

"ये और हैं। केवल लक्ष्मीजी आड़े आती हैं।"

"चल-चल।"

"देखना है ?" राधाजी ने कहा।

"क्या ?"

"देखो," कहकर राधिकाजी ने भगवान् का सुदर्शन लेकर गाड़ी के पास रखा। घोड़ा चमका। एक तेज आती हुई मोटर उससे टकराई और दूसरे ही क्षण वह छैला मोटर के नीचे चीख मारकर गिर पड़ा।

"क्या करता है ?" गोवर्धनधारी ने पूछा।

"देखो तो सही।"

उस स्त्री ने अचानक पति को पहियों के नीचे देखा तो नाज-नखरे छोड़कर खड़ी हो गई। दुशाले की किनारी और पाउडर की चमक की चिन्ता छोड़कर उसने गाड़ी में से छलाँग मारी और लोहूलुहान पति को अपने हाथों में उठा लिया।

"अररर ! यह क्या किया ?"

"विजयी होने का यही ढंग है", हँसकर राधाजी ने कहा।

"कैसे ?"

"वह छैला अब कुरूप और मूर्ख हो जायगा, पैसा कमाना बन्द होगा और वह देवी पटरानी से प्रणयिनी हो जायगी। क्लब और जीमखाना छोड़कर दिन-रात उसकी सेवा करेगी और वह नाच छोड़कर उसके गले लिपटकर सुख पावेगा।"

"अरे, वाह री मेरी राधा।"

"चलो, अब किसी और से मिलें।"

कुछ दूर चलने पर एक बड़ी रोल्स रायस में एक अधेड़ उम्र का आदमी बैठा हुआ दिखाई दिया। वह एक बड़ा सिगार पी रहा था।

"यह तो सच्चा लक्ष्मी-भक्त है।" विष्णुजी ने कहा, "इसने जीवन भर लक्ष्मी को छोड़कर किसी और की सेवा की ही नहीं। इस नगर में ऐसे कितने होंगे?"

"क्या आपका ऐसा विचार है कि यह लक्ष्मीदास वास्तव में लक्ष्मीजी का पूजक है?"

"और क्या? पैसा कमाने और खरचने के अलावा इसने दूसरा क्या काम किया है?"

"अच्छा, खड़े रहो। इसकी जेब में जो इसकी डायरी है उसे पढ़ें।"

राधा-माधव ने दिव्य चक्षुओं को धारण किया और डायरी पढ़ने लगे—

ता० ३१-१२-१९२६

"आज सड़सठ लाख पूरे हो गये। करोड़ कब होंगे?

लड़कियाँ आई थीं—पैसा माँगने। तानुबाई भी मोती की लर माँगती थी। सब मुझसे पैसा ही चाहते हैं। सच

है कि मेरे पास पैसा है नहीं तो मेरी ओर कानी कुतिया भी न देखे।—लड़की, लड़के, तानुबाई, नौकर भी—सब पैसे के सगे हैं। मेरे लिए—विना धन के मेरे लिए चिन्ता करनेवाला तो कोई है ही नहीं। कोई ऐसा नहीं कि मुझे देखकर—मेरे पैसे के लोभ के विना प्रेम से मुझे बुलावे—क्या कोई ऐसा मिलेगा? अरे राम, कोई नहीं मिलेगा।"

"राधा!" भगवान् ने कहा, "मुझे नहीं खबर थी कि तू ऐसी चंट है।"

"अब इधर देखो," समुद्र के किनारे एक टीले पर खादी की पोशाक पहने हुए एक आदमी की ओर इशारा करके राधिकाजी ने कहा, "पहचाना यह कौन है?"

"नहीं।"

"यह महातत्त्वज्ञानी है। इसने समस्त जीवन सरस्वती के चरणों में समर्पित कर दिया है। इसने सुकुमार संगिनी को छोड़कर अखंड ब्रह्मचर्य का पालन किया है और धन-दौलत छोड़कर अपरिग्रह का व्रत लिया है।"

"इसका अर्थ है कि अभी सरस्वती के सेवक मौजूद हैं।"

"जरा ठहरो। वह इसका मित्र आया। सुनो।"

"अजी पंडितजी! क्या कर रहे हैं?"

"कुछ नहीं।" पंडितजी ने कहा।

"मैं कुछ पूछने आया हूँ।"

"क्या?"

"आपकी सम्मति में संसार के साहित्य में सबसे सरस पंक्ति कौनसी है?"

"सुनना," राधिकाजी ने मुरारी के कान में कहा।

"मुझे तो लगता है—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि[१] रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्मलक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥ १॥"

"धत्तेरे की!" कहकर भगवान् ने मुँह फेरा और बोले, "तू तो इसे बड़ा भारी ब्रह्मचारी बताती थी।"

"आप जैसा बालब्रह्मचारी है।" राधिकाजी हँसीं, "इसका शरीर और बुद्धि सरस्वती के चरणों में समर्पित है। अंतर और कल्पना मेरे लिए बेचैन हैं।"

"मुझे क्या पता था कि तू सर्वव्यापी है।"

आगे चलकर वे खड़े हो गये। एक युवक बैठा था। उसका चेहरा चिन्ताग्रस्त था। उसकी आँखें दूर क्षितिज पर थीं।

"गोपाल!" राधाजी ने कहा, "इसे पहचाना?"

"हाँ," दिव्य चक्षुओं का उपयोग करते हुए भगवान् ने कहा, "यह वह व्यापारी है जिसके हरएक कार्य में से पैसा झरता है।"

१—शैवाल से घिरा होने पर भी कमल रम्य लगता है। चन्द्रमा का कलंक मलिन है तो भी उसकी शोभा में वृद्धि करता है। इस सुन्दरी ने वल्कल पहने हैं फिर भी अधिक सुन्दर लगती है। मधुर आकृति के लिए क्या अलंकार रूप नहीं है?

"हाँ, और जिसकी हरएक कविता से सरस्वती का प्रसाद झरता है वह।"

राधाजी ने हँसकर ऊपर देखा। "रसिया, यह देखा कि नहीं?"

विष्णु भगवान् ने ऊपर देखा। अंतरिक्ष में मयूर पर बैठी लक्ष्मी उतरती चली आ रही थीं।

"अरे! लेकिन लक्ष्मी भी तो आ रही है। देख न उसका कमलासन उतरा", विष्णु ने दूसरी ओर दिखाते हुए कहा।

राधा खूब हँसीं—"निसर्गमित्रा श्री और सरस्वती ने इस युवक के लिए परस्पर समझौता किया है।"

"क्यों?"

"इसलिए कि दोनों मिलकर मुझे परेशान करना चाहती हैं।"

"अब समझ में आया," त्रैलोकनाथ ने कहा, "राधा, अब कैसे बचेगी?"

"घबराते क्यों हो? लो, उधर देखो," राधिकाजी ने उँगली से इशारा किया। एक गाड़ी रुकी और उसमें से एक युवती निकलकर उस युवक के पास आई।

"देखो! उस युवक का मुख देखो। उसकी आँखों में मेरी विजय दिखाई देती है कि नहीं। ऊपर देखो, लक्ष्मीजी और सरस्वती के मुख पर व्याप्त भयंकर निश्चय को तो देखो! दोनों कैसी कुरूप लगती हैं?" राधाजी ने हँसकर कहा।

“देखो, देखो, ये लक्ष्मीजी उस स्त्री की आत्मा में प्रविष्ट हुईं। सुनो!” वह युवती उस युवक से कह रही थी—

“प्यारे, तू यह बात छोड़ दे। जानता है कि यदि तूने मुझे स्वीकार कर लिया तो क्या होगा?”

“क्या होगा?”

“तुझे अपना धंधा छोड़ना पड़ेगा।” युवती ने लक्ष्मीजी की प्रेरणा से कहा।

“यह तो मैंने कभी का सोच रखा है।”

“लेकिन तू धनवान् है और धनाढ्य हो जायगा। फिर तुझे किस बात की कमी रहेगी?”

“तेरी!” युवक ने हँसकर कहा।

“लेकिन धन छोड़कर तू कैसे रहेगा? तेरे सुन्दर शरीर और सुकुमार अंगों का क्या होगा?”

“तू है न।”

“धन के विना प्रतिष्ठा नहीं, प्रतिष्ठा के विना आबरू नहीं, आबरू के विना जीवन नहीं—”

“पगली! क्या धन, प्रतिष्ठा और आबरू से कोई सुखी हुआ है? यदि ऐसा होता तो धनाढ्य जहर क्यों खाते? प्रतिष्ठावाले ‘हाय-हाय’ क्यों करते?”

लक्ष्मीजी घबराईं और सरस्वतीजी से सहायता माँगी। सरस्वतीजी उस स्त्री की आत्मा में उतरीं।

“देखो विट्ठलवर!” राधाजी ने कहा, “वे पुराने शत्रु एक हो गये न?”

“अब मेरा क्या होगा?”

"कुछ नहीं, देखते जाओ।"

उस युवती ने युवक से कहा—"लेकिन भोले! मेरे लिए संसार छोड़ देगा तो तेरी आत्मा का क्या होगा? तेरी काव्यमयता क्या होगी? तुझे सब लोग अधम समझेंगे। तो तू ऊँचा कैसा उड़ेगा और तू ऊँचा न उड़ेगा तो स्वर्गीय संदेश कौन भेजेगा?"

"प्राण!" युवक ने कहा, "मैं किसलिए गाता हूँ—सुख पाने के लिए। मैं किसलिए कविताएँ लिखता हूँ—आनन्द अनुभव करने के लिए। तेरा साहचर्य सुख और आनन्द दोनों प्राप्त करा देगा। तो फिर कविताओं की क्या चिन्ता है?"

सरस्वतीजी और लक्ष्मीजी ने एक दूसरे की ओर देखा और दोनों ने उस बाला को एक साथ प्रेरणा दी।

"लेकिन प्यारे! दुनिया तुझे घबरायेगी—डरायेगी—जलायेगी! तब—"

"तो तेरा नाम रटता हुआ हँसते-हँसते चिता पर चढ़ जाऊँगा—"

"देखा!" राधिकाजी ने भगवान् से कहा।

"प्राण!" उस युवती ने कहा, "तू अजीब है। जैसी मैं हूँ वैसी ही तेरी—"

दोनों मिले। लक्ष्मीजी और सरस्वतीजी की आँखों में खून उतर आया। उन्होंने अन्तिम प्रयत्न किया।

"प्राण!" युवती ने कहा, "आज से हमसे लक्ष्मी और सरस्वती दोनों का वैर होगा।"

"पगली !" युवक ने युवती को पास खींचा, "राधारमण कहीं भुला सकते हैं ?"

राधिकाजी गर्व से देखने लगीं। लक्ष्मी और सरस्वती वाहनारूढ़ होकर चलने लगीं।

वे युवक और युवती ऐसे उठे, जैसे संसार से बदला ले रहे हों। यद्यपि उनका विश्वास था कि कल प्रातःकाल के बाद सृष्टि उनके लिए निर्जन हो जायगी तो भी उनके मुख पर तेज था।

"इन लोगों का क्या होगा ?" भगवान् ने पूछा।

"कल से ये मारे-मारे फिरेंगे और भूखे पेट निर्जन अरण्य में भटकेंगे।"

"अररर—"

"केवल मैं ही इनकी देखभाल करूँगी पर इन दोनों में से एक भी असन्तुष्ट श्री या सरस्वती को मनाने की चेष्टा न करेगा।"

त्रैलोकनाथ की आँखें चमकीं, होठ भिंचे, सर के बालों के खड़े होने से मुकुट हिल उठा। उन्होंने पांचजन्य पकड़ा और एक, दो और तीन बार नाद किया। दिशाएँ काँपीं, सागर गर्जा, दिग्पाल हा-हा खाते हुए आये, गरुड़जी पैरों में आधा खाया हुआ साँप दबाये हाजिर हुए।

त्रिभुवननाथ की आँखें आकाश में लगी थीं। उनमें से धूमकेतु की पूँछ जैसी तेज की रेखाएँ निकल रही थीं।

झंझावात शुरू हुआ और देखते-देखते सरस्वतीजी का मयूर तथा लक्ष्मीजी का कमल गोता खाते उतरे। उन पर भयभीत कमला और शारदा—एक कमल की नाल और दूसरी मोर की गर्दन पकड़े—बैठी थीं।

"लक्ष्मी ! शारदा !" गर्जन करते हुए भयंकर आवाज में भगवान् ने कहा, "वे युवक और युवती देखे ! खबरदार जो उन पर क्रोध किया तो।"

"मुरारि !" राधिकाजी ने चुटकी ली, "जाने दो उन दोनों को। उन बेचारों पर यदि लक्ष्मी और सरस्वती की कृपा हो गई तो उनको बड़ी कठिनाई होगी। अब तो उन्हें किसी गाँव में जाकर निर्झर के कल्लोल के साथ आत्मगुंजन करने दो।"

"अच्छा !" क्रोध को शान्त करते हुए भगवान् ने कहा, "तो ठीक है जाओ।"

"घर वापस चलना है क्या ?" लक्ष्मीजी ने जरा उपेक्षा से पूछा।

भगवान् ने जवाब दिया, "नहीं," और बोले—"राधा ! चलो वृन्दावन। पुरानी स्मृतियाँ ताजी करें, न जाने फिर मेरा क्या हो ? गरुड़, चल।"

गरुड़जी आये। राधाकृष्ण ने उस पर सवारी की और वह उड़ा।

वृद्ध गरुड़जी ने लम्बी साँस ली। वह स्वयं तो "गलितम् पलितम् मुण्डम्' हो गया था और युगों पुराने उसके मालिक में ये नई उत्कंठाएँ स्फुरित हुई थीं। उसकी वृद्ध कल्पना तो गरुड़ी का चित्र खड़ा करने में भी अशक्त थी और उसके मालिक 'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः' की साक्षात् प्रतिमूर्ति बने हुए थे।

———

फौजदार साहब

गांधीयुग के मध्याह्न का अहमदाबाद था। समस्त विश्व की दृष्टि और समस्त भारत की आशा अहमदाबाद पर साबरमती के किनारे एक राष्ट्र-निर्माता पर टिकी थी। एक परम योगीश्वर समरांगण में उतरे थे।

ब्रिटिश साम्राज्य काँपता था—कल सबेरे गांधीजी क्या कहेंगे और क्या करेंगे, इसी पर दृष्टि रखे वह बैठा था।

अहमदाबाद—इस दैवी नायक की राजधानी—आत्मबल के शस्त्र लिये विनय-यात्रा शुरू करने को प्रस्तुत था। सबको विश्वास था कि देखते-देखते यह अत्याचारी साम्राज्य नष्ट हो जायगा। उन दिनों अहमदाबाद कोई ऐसा-वैसा—कमजोर न था। साथ ही कोई भारतीय राजभक्त भी न था—एक अपवाद को छोड़कर और वह अपवाद थे प्रमोदराय फौजदार।

चालीस वर्ष से वे ब्रिटिश साम्राज्य के सेवक थे और एक पुलिस के सिपाही से बढ़ते-बढ़ते डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट हुए थे। इन चालीस वर्षों में उन्होंने प्रबन्ध, कानून और अमन

को अपना धर्म माना था और ब्रिटिश साम्राज्य को अपना अन्नदाता। पिनलकोड के नियमों को भंग करना उनकी दृष्टि में सबसे बड़ा गुनाह था। उनके लिए विक्टोरिया से लेकर एडवर्ड और जार्ज तक की सम्राट्-परम्परा के प्रति वफ़ादार रहना ही सबसे बड़ा धर्म था। जिस समय वे किसी अपराधी को पकड़ने या सजा देने जाते उस समय अड़सठ तीर्थों की परिक्रमा करनेवाले की भाँति पग-पग पर उनको गर्व और तपोमयता का अनुभव होता। उनका यह भी ख्याल था कि जैसे ब्राह्मण के पुण्य से पृथ्वी रसातल जाने से बचती है वैसे ही उनकी सेवा से वह सातवें पाताललोक में जाने से बचती है।

उनकी वफादारी में स्वार्थ की गंध न थी। उनकी दृष्टि में व्यवस्था और वफादारी विश्व के सबसे बड़े नियम थे। यदि सिपाही पहरा न दे, मजिस्ट्रेट अपराधी को दण्ड न दे तो सृष्टि का क्या हो, इसकी वे कल्पना भी न कर सकते थे। यदि पृथ्वी पर कानून और व्यवस्था न हो तो पृथ्वी का होना न होना बराबर है। एक महापुरुष ने भारत में 'वफादारी' की व्याख्या यों की थी—"वफादार वह है जिसे कभी वफादारी न करने का अपराधी न ठहराया गया हो।" प्रमोदराय को इस व्याख्या की जरूरत न थी। उनकी वफादारी तो ज्वलन्त भक्तिमय और श्रद्धापूर्ण थी। जिस प्रकार गीताकार ने सारी जनता को साधु और असाधु नामक दो भागों में विभाजित कर डाला था वैसे ही फौजदार साहब ने भी जनता को व्यवस्थाप्रिय और व्यवस्थाविरोधी नामक दो भागों में विभाजित कर लिया था।

उनका जीवन भी व्यवस्थामय था। उनके कागज-पत्रों, उनके कपड़ों और उनके शस्त्रों में भी अडिग व्यवस्था थी। उन्होंने अपने संसार को व्यवस्थामय बना लिया था। सप्ताह में कब शाक और कब दाल बनेगी, यह वर्षों पहले निश्चित हो चुका था। परसन काकी महीने में निश्चित किये चार दिनों में रात होने पर अच्छे वस्त्राभूषण पहनतीं।

फौजदार साहब का एक भी मित्र न था। फिर उन्हें अपने काम के सिवाय और किसी चीज में मजा भी नहीं आता था। उनके सब कार्य कलाकार की दृष्टि से होते। उनका मिठासभरा मुख और स्नेहसिक्त स्वर अपराधियों को बन्द करने के उपयोग में आते। उनकी विनम्रताभरी रीति-नीति का प्रयोग कड़ी से कड़ी आज्ञा देने और उसका पालन कराने में होता।

वे समस्त राजनीतिक हलचल पर कड़ी नजर रखते और यह मानकर चलते कि उसमें भाग लेनेवाले सब भावी बन्दी हैं। उनके साथ मिठास और मित्रता का व्यवहार करते—एक कलामयी दृष्टिवाले कानून और व्यवस्था के प्रतिनिधि की चतुराई को काम में लाते। बहुत से हाकिम प्रमाण-पत्र पाने, तनख्वाह बढ़वाने, खिताब पाने और ऊपर के हाकिमों को प्रसन्न करने के लिए राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेनेवालों को तंग करते पर फौजदार साहब ऐसे घोर पापियों को बीन-बीनकर परमधाम पहुँचाने को तरसते—परन्तु खूबी के साथ।

जैसे कोई विलासी पुरुष उपवन में बैठा हो, शीतल मन्द और सुगन्ध समीर का आनन्द ले रहा हो, सुन्दरी के

सुकुमार हाथों का स्पर्श करते हुए तारों का सुमधुर संगीत सुन रहा हो और ज्वालामय हुंकार करता, पैर पटकता और प्रलय मचाता भयंकर यमराज भैंसे पर चढ़कर आ जाय वैसे ही शान्त और सुव्यवस्थित अहमदाबाद में शान्ति कायम रखनेवाले फौजदार साहब के राज्य में असहयोग का बिगुल बजाते और अपने अनुयायियों पर हुक्म चलाते महात्माजी आ पहुँचे।

इस विनाश को रोकने के लिए उनके मस्तिष्क में एक युक्ति आई। उन्होंने कमर की पेटी को कसा और घर में जो तीन हथकड़ियाँ थीं उनकी छः करा लीं।

सभाएँ, समाचार-पत्र और स्वयंसेवकों की टोलियाँ शासन का विरोध करने लगीं।

ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये त्यों-त्यों उन्हें पृथ्वी की जड़ें उखड़ती दिखाई देने लगीं। कानून का तोड़ना—सविनय हो या विनयहीन—कानून का तोड़ना ही था। और इसको अपना परम कर्तव्य माननेवालों को दिन दहाड़े घूमते देखकर उनकी परेशानी की सीमा न रही। वे इन कंटकों को उखाड़ फेंकने को तैयार थे पर ऊपर के अफसर उन्हें शान्त रहने को कहते थे इसलिए उमड़ते हुए जोश को दबाकर वे सावधान बने बैठे रहे।

गांधीजी द्वारा प्रज्वलित उत्साह की भयंकर ज्वालाएँ चारों ओर दावानल फैला रही थीं पर उनको इसकी आँच तक न लगती थी। पुलिस के न्याय और धर्ममय शासन तथा पिनलकोड के वेद-वाक्यों की पवित्रता में अटल श्रद्धा रखनेवाले इन महात्मा के प्राण इस दावानल को देखकर बाहर निकलने लगे। उसे बुझाने की उनमें ताकत थी पर न जाने

क्यों कोई उनको ताकत आजमाने ही न देता था। दुनिया का क्या होनेवाला था।

इन पापात्माओं की विजय, चारों ओर अनुशासनहीनता, अपनी निष्क्रिय अशक्ति, ब्रिटिश साम्राज्य की भीरुता—इनका वे बराबर विचार करते रहते—यह विचार करते-करते उनकी अकड़भरी चाल में और भी अकड़ आ जाती। कानून और व्यवस्था का गौरव घट जाने के भय से वे अपने कपड़े स्वच्छ रखते, पेटी और तलवार चमकाते और मूछों को अधिकाधिक ताव देते। साथ ही साथ उनके मुँह पर मिठास, आवाज में मृदुता और चालढाल में सौम्यता अधिक आने लगी। उनकी जागरूकता सर्वग्राही होने लगी और उनके प्रेमपूर्ण हास्य के प्रभाव से अभिभूत होकर सत्यग्राही सतर्कता भूलने लगे।

दिनेश ठाकुर उदीयमान वकील था, कांग्रेस का नेता था, स्वयंसेवक दल का और गांधीजी का दायाँ हाथ समझा जाता था। मुहल्ले-मुहल्ले में उसने असहयोग की भावना भरी थी, घर-घर को उसने सविनय कानूनभंग करना सिखाया था। वह बड़ा प्रभावशाली समझा जाता था, लोकप्रिय समझा जाता था। फौजदार साहब ने उसे कितनी ही बार देखा था। फौजदार साहब के मन में उसे देखकर वैसी ही भावना जगती थी जैसी कि बेफिक्री से सोते आदमी के अचानक किसी के काट लेने के कारण जग पड़ने तथा हाथ पर रेंगते खटमल को देखने से होती है। तब से उन्होंने दिनेश के साथ घनिष्ठता जोड़ी और उसके जीवन तथा आदर्शों में सगे चाचा से भी ज्यादा रुचि दिखाने लगे।

कभी-कभी जब रात को वे यह देखते कि छहों हथकड़ियाँ ठीक हैं या नहीं तो इसका भी विचार करते कि कौन सी हथकड़ी दिनेश के हाथों में शोभित होगी, कौन सी वल्लभभाई के हाथों में और कौन सी गांधीजी के हाथों में।

फौजदार साहब—वास्तव में डी० एस० पी० साहब के उत्साह का आज पार न था। आज उन्हें दिनेश को पकड़ने के लिए वारंट सौंपा गया था। अब हलचल शान्त होगी और व्यवस्था पुनः स्थापित होगी। आज दिनेश, कल वल्लभभाई, परसों गांधीजी—फौजदार ने विचार किया। उसके बाद यह काँपती पृथ्वी स्थिर होगी और विनाश रुकेगा।

दिन भर उसे दिनेश ही दिनेश के विचार आते रहे। वह हथकड़ी में कैसा लगेगा, पकड़े जाते समय वह क्या कहेगा, उसको कितनी सजा होगी, ये सब बातें उन्होंने सोचीं। उसे किस समय पकड़ा जाय, इसका भी विचार उन्होंने किया।

कानून के मुताबिक जीवन बितानेवाले फौजदार की कला-दृष्टि सूक्ष्म हो गई। उसके दिमाग में यह सूझ आई कि जब रात को आठ बजे दिनेश खाने बैठा हो और उसकी स्त्री थाली लिये खड़ी हो तब उसे जाकर पकड़ा जाय। दिनेश केवल तहमद बाँधे होगा और उसकी स्त्री पीताम्बरी पहने होगी। थाली के आगे लालटेन रखी होगी या मोमबत्ती? खाने को क्या होगा?........

नीचे दरवाजा खटका। इस समय कौन आया?

उन्होंने देखा कि परसन की काकी ने दरवाजा खोला है।

"भैया हैं?" किसी स्त्री की आवाज आई।

"हाँ हैं। क्यों बहन ?" परसन काकी की आवाज आई।

"भैया से जरा काम है।" कहकर आनेवाला जीने पर चढ़ने लगा।

फौजदार साहब की आँखें चमकीं। उनके होंठ भिच गये। दिनेश ठाकुर की माँ! उन्होंने मेज की दराज खींची और उसमें पड़े वारंट और हथकड़ी को देखा। दराज बन्द कर दी और अनुशासन भंग करनेवाले दुष्ट की माता से मिलने को आगे बढ़कर कुर्सी पर बैठ गये। मुख पर सुमधुर हास्य का आवरण पड़ा रहने दिया।

सफेद ड्रेस, चमकते बटन और पेटी, जोधपुरी ब्रिचिस, तावदार सफेद मूँछें, गंजा सर और तेजस्वी माथा, कठोर, निश्चल और बड़ी बड़ी आँखें—ये सब इस आदर्श अधिकारी की व्यवस्था को अद्भुत तथा आदर्श बना रहे थे और कोई भी देखकर यह नहीं कह सकता था कि ब्रिटिश साम्राज्य खतरे में है।

भारी शरीर की कमला बहन घुटनों पर हाथ टेकती हुई ऊपर चढ़ीं।

"भैया आऊँ क्या ?" हँसकर वह जीने पर चढ़ीं और साँस लेने खड़ी हो गईं।

"आओ, फौजदार ने उत्साह के साथ स्वागत किया।

जो युग दस सेर के कड़े पहनकर मगनभाई के कुए से पानी भर लाता था और पूरी दस रात तक एक-एक बालिश्त कूदकर दीवानखाने में सुनाई देनेवाला मरसिया गाता था उस युग की प्रतीक थीं ये कमला बहन। आज का अधोगति प्राप्त

निर्जीव युग यह कल्पना करने में असमर्थ है कि इनमें भी कभी आकर्षण रहा होगा परन्तु जवानी में अधेले जैसी बिन्दी लगाकर और पैसे-जैसी बुलाक पहनकर कमला बहन ने कितने हृदयों को जीता था, इसकी फौजदार को खबर थी। लेकिन इस स्मृति से एक अधिकारी के कठोर और व्यवस्थापूर्ण हृदय में आर्द्रता का तनिक भी संचार नहीं हुआ।

"क्यों कमला बहन, बड़े दिनों के बाद आईं ?" फौजदार साहब ने पूछा। केवल उनकी आँखें ही हँसीं।

"भैया !" कमला बहन ने फौजदार के पैरों के पास बैठते हुए कहा, "आज मेरे लड़के का जन्म-दिन है।" वह रुकी पर फौजदार के हँसते मुख पर कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उसने मात्र मूछों पर एक बार ताव दिया। कमला बहन ने अपने बुड्ढे मुँह को मटकाकर पूछा—"भैया ! क्या गाँव में फैली यह अफवाह सच है ?"

"कौन सी ?" उन्होंने आँखें फाड़कर ऐसे भोलेपन से पूछा, जैसे वे स्वयं ऐसी किसी अफवाह से अपरिचित हों।

"कि दीनू आज गिरफ्तार होनेवाला है।"

फौजदार साहब बिना कुछ बोले मूछों पर ताव देते रहे।

"भैया ! आज दीनू का जन्म-दिन है।"

"यह तो तुमने अभी-अभी बता ही दिया," मिठास से फौजदार साहब ने कहा।

"और भैया ! उसकी बहू सूरत जात्रा करने गई थी सो अभी-अभी लड़का लेकर आई है।"

"अंहं।"

"भैया ! आज की रात इसे कोई पकड़े नहीं, इतना करो न।" कमला बहन ने दीनता से कहा, "कल फिर उसका जो कुछ करना हो सो करना।"

"कमला बहन ! सत्याग्रही को जेल के समान सुख कहाँ है ?" फौजदार की आँखें हँसीं।

"भैया ! इस समय तो वह गांधी के पीछे पागल हो गया है लेकिन चाहे जैसा हो, है तो मेरा इकलौता बेटा।"

फौजदार साहब कुछ न बोले। उसका इकलौता बेटा है तो वे क्या करें ? कानून और व्यवस्था कितने एक मात्रों की रक्षा करते हैं।

"भैया ! क्या मुझ गरीब के लिए इतना नहीं करोगे ? एक रात में क्या बिगड़ा जाता है ?"

"कानून को जन्म-दिन की क्या चिन्ता ?" जैसे बड़े ही हर्ष की बात पूछ रहे हों, ऐसे उन्होंने पूछा।

"लेकिन मुझे तो है ?"

"तो मैं क्या करूँ ?"

"तुम चाहे जो कर सकते हो।"

"मेरे हाथ में हो तो भी मैं दीनू के लिए कुछ नहीं करूँगा।"

"भैया ! ऐसे कठोर क्यों बनते हो ?"

"वह शान्ति और व्यवस्था का शत्रु बन बैठा है। उसे कोई मदद किस तरह दे सकता है ?" विवश होकर फौजदार ने ऐसे कहा, जैसे वे अपनी दिक्कतें पेश कर रहे हों। कमला बहन क्षण भर उदास मुख से खड़ी रहीं। फौजदार साहब ने पेटी में अँगुली डाली।

"अच्छा, और कुछ ?" फौजदार साहब ने हँसकर कुर्सी से उठने के लिए दोनों हाथ कुर्सी के हत्तों पर रखे ।

"भैया ! इतना तो करना ही पड़ेगा," कमला बहन ने नीचे देखते हुए कहा । फौजदार साहब ने मौन से अस्वीकृति दी ।

"मैं अभागी जन्म भर अभागी ही रही," कमला बहन ने कहा और उठने लगी । "देखो न, यदि ऐसा न होता तो क्या हमारी सगाई छूटता ?"

फौजदार साहब ऐसे आँख फाड़कर देखने लगे जैसे अपनी याददाश्त ताजी कर रहे हों । वे जरा हँसे और बोले— "क्या तुम्हें याद है ?"

"मुझे याद क्यों न होगा ? क्या तुम भूल गये कि मैं बाड़ी में आई थी और तुमने मुझे चुपचाप गाड़ी में बैठकर गन्ना काटकर दिया था ।" कमला बहन के कठोर स्वर में स्मरणभीनी मिठास आई ।

अचानक फौजदार साहब की नजर अपनी अँगुली पर पड़ी । उनकी अँगुली पर एक अस्पष्ट-सा घाव दिखाई देता था । उनका मुख खिल उठा । उनकी आँखों में शोखी झलकी । थोड़ी देर तक वे कमला बहन की तरफ ऐसे देखते रहे जैसे मजाक कर रहे हों । "क्या तुम्हें सब कुछ याद है ?" उन्होंने उसी वाक्य में अपना भाव बदला, "अभी तक मेरी बीच की अँगुली पर उस गन्ने के काटने का घाव बना है । देखो ।" कहकर उसने अँगुली ऊपर उठाई ।

कमला बहन ने पास आकर देखा—"हाँ, अभी है ।"

वे हँसीं। लेकिन तुरन्त गम्भीर स्वर में उन्होंने कहा—"भैया! वह सब सपना हो गया। मेरे नसीब में तुम नहीं लिखे थे इसलिए मैं राँड हुई, चक्की पीसकर पेट भरा, जैसे-तैसे बच्चे को पाला और आज यह दशा!" कमला बहन आँचल के पल्ले को आँखों तक ले गईं। "भैया! तुम सुखी होने के लिए बनाये गये पर मैं न हुई।"

फौजदार साहब ऐसे ढंग से देखने लगे जैसे उनके हृदय में दरार पड़ गई हो। यदि परसन के बदले कमला उनकी गृहिणी हुई होती तो उनके जीवन के प्रवाह में कुछ अद्‌भुत सौंदर्य आ गया होता। गन्ने के टुकड़ों की स्मृति ही जब इतनी सुन्दर है तो वास्तविक जीवन कैसा होता, इसे कौन जानता है। ये विचार फौजदार के मुख पर स्पष्ट झलक रहे थे। कमला बहन ने उन्हें पढ़ा और आह भर के बोलीं—"और इस दिनेश ने जो बाप का सुख नहीं देखा उसे अब तक देखता।" यह कहकर बैठ गईं।

प्रमोद ऐसे देखने लगे जैसे उनकी समझ में कुछ न आया हो। ऐसा लग रहा था जैसे उनके स्वस्थ हृदय में अपरिचित वायु बहने लगी हो।

उन्होंने कमला बहन की ओर देखा और उनकी आँखों में अद्‌भुत आर्द्रता आई। हृदय में जो उल्लास दूर से गीत की ध्वनि लेकर आनेवाले शीतल पवन के झोंके भरते हैं वही उल्लास उनके हृदय में व्याप्त हो रहा था, यह बात उनके मुख से प्रकट थी।

दोनों एक दूसरे को देख रहे थे। कमला बहन को ऐसा

लगा जैसे फौजदार साहब इस भय से चुप बैठे हों कि कहीं इस समय हाथ में आई हुई मोहिनी खिसक न जाय। यह सब भाँपकर थोड़ी देर में कमला बहन बोलीं—"भैया ! मैं जाती हूँ। मुझे देर होती है। आज दीनू का जन्म दिन है और घर मेहमान आनेवाले हैं। साथ ही बहू-बेटे भी आये हैं।"

फौजदार साहब ने मूछों पर ताव दिया।

"भैया ! आज दीनू को मत पकड़ना।" कमला बहन ने हँसकर कहा—"देखो, ध्यान रखना।" फौजदार साहब ने खाँसकर गला भर साफ किया, गले से आवाज न निकली।

"जो कुछ करना हो सो कल सवेरे करना" कहकर कमला बहन जीने के कटघरे पर हाथ रखकर उतरने की तैयारी करने लगीं।

"अच्छा........" फौजदार साहब के गले से इन शब्दों के निकलने के पहले ही कमला बहन सीढ़ियाँ उतर गईं।

फौजदार साहब अकड़कर खड़े हो गये। कानून और व्यवस्था की समस्त शक्ति उनके अन्तर में आ गई। उनका मुख कठोर——न पहचाना जा सके ऐसा—हो गया। एक तो शासन का विरोध और दूसरे यह जालसाजी। कमला ने जो कुछ कहा था उसे घृणा से उन्होंने बार-बार दुहराया।

उन्होंने दराज खोली, वारंट फिर से पढ़ा और उसे तथा हथकड़ी को जेब में रखा।

वे नीचे उतरकर ऊबड़-खाबड़ अँधेरी गलियों में गये। उनके दृढ़ डग, सचोट दृष्टि और तलवार की मूठ पर उनके हाथ को देखकर ऐसा लगता जैसे वे अन्धेरगर्दी और अव्यवस्था पर शासन करनेवाले कानून की सजीव मूर्ति हों।

वे दिनेश के घर गये। उसका घर छोटा और पुराना था। उसका धंधा अभी ऐसा नहीं जमा था कि वह बड़ा घर बनवा ले। दरवाजा खटखटाने से पहले उन्होंने जाली में से झाँककर देखा।

चौक में दिनेश और उसके दो मित्र जीमने बैठे थे। सामने बैठी कमला बहन प्रेमपूर्ण आँखों से बेटे को देख रहीं थीं। उनकी गोदी में दो महीने का पौत्र था। दिनेश की बहू, शरमाती और मुसकराती हुई—परस रही थी। एक अगरबत्ती की सुगन्ध चारों ओर फैल रही थी।

फौजदार साहब कुछ देर तक देखते रहे। शासन-विरोधियों को देखकर उन्होंने होंठ पीसे। कमला द्वारा कही गई बात से उनको क्रोध आया।

"कौन है?" कमला बहन ने पूछा।

फौजदार साहब ने ध्यान से देखा। दिनेश और उसके मित्र स्तब्ध हो गये। दिनेश की बहू फीकी पड़ गई। कमला बहन की आँखों में वेदना और उपालम्भ दोनों थे।

"जब वह सात वर्ष का था तब उसने उसे गन्ने के टुकड़े करके दिये थे।—" उन्होंने कमला बहन की बात याद की और खिलखिलाकर हँसे। "कोई नहीं, मैं हूँ।"

"कौन परमोद काका?" दिनेश की कड़कती आवाज आई।

"आओ, झूले पर बैठो। जूते उतारने की जरूरत नहीं। मैं समझ गया कि तुम क्यों आये हो? मुझे जीम लेने दो। माँ काका को दूध तो दे—नहीं-नहीं, काका, ऐसा नहीं हो सकता। आज तेरा जन्म-दिन है।"

फौजदार की आँखों के आगे सारी दुनिया घूमने लगी। अगरबत्ती की सुगन्ध उसे वश में कर रही थी। उनके और दिनेश के बीच पारदर्शक पर्दा पड़ा था।

वे झूले पर बैठे——बैठे क्या, बैठना पड़ा। कितना प्रेमपूर्ण स्वागत था।

"बट्टू! काकाजी के लिए अच्छा दूध ला," कमला बहन की आवाज आई। इसी आवाज से साठ वर्ष पहले गन्ना माँगा था।

"भैया!" फिर वही आवाज आई, "यह दीनू का लड़का है।" उनकी जीभ अटक गई, मात्र हाथ ही लम्बे हो सके। उन्हें अपनी धुन्ध छाई आँखों से अपने हाथ में एक छोटा-सा बच्चा दिखाई दिया——और वे हँसे। उनकी आँखों में शोखी झलकी। "यदि साठ वर्ष पहले सब बातें अनुकूल हुई होतीं तो उनका लड़का होता और यह बच्चा——" उन्होंने मन में सोचा और रहस्यमय ढंग से देखने लगे।

"काका, क्या मुझे ले चलने की जल्दी है?" दिनेश ने कहा।

"जल्दी किसकी? किस लिए? कुछ जल्दी नहीं। मैं तो इसलिए आया हूँ कि मैंने सुना था कि आज तेरा जन्म-दिन है।"

उन्होंने कमला बहन की हर्ष और कृतज्ञता से चमकती आँखें देखीं। जिस समय उन्होंने गन्ने का टुकड़ा दिया था उस समय भी क्या आँखें ऐसे ही नहीं चमकी थीं?

फौजदार साहब ने अपने मन के साथ मजाक किया

और हँसे। उन्होंने दूध लिया और पिया। वे हँसे—सब हँसे। वे बोले—सब बोले। वह बच्चा रोने लगा। उनको तो वहाँ का वहीं बैठना था। उन क्षणों में या फिर अगरबत्ती में बड़ी भारी मादकता थी।

दिनेश जीम कर उठा और वह तथा उसके मित्र पान खाने बैठे। सामने कमला बहन और दिनेश की बहू जीमने बैठे।

फौजदार साहब की बुद्धि कर्तव्य करने की प्रेरणा दे रही थी—"कानून और व्यवस्था सनातन दैवी धर्म हैं। इस धर्म के विरुद्ध चलनेवाले को दण्ड मिलना ही चाहिए।" लेकिन यदि वह इस समय दिनेश को स्वयं पकड़ता है तो रंग में भंग होता है। कमला की बात याद आते ही हँसी आई—यदि कमला उसकी स्त्री हुई होती और दिनेश उसका पुत्र तो यह छोटा बालक उसका पौत्र हुआ होता—और वह स्वयं इस सुखी और प्रेमी कुटुम्ब का पिता हुआ होता।—उसे मन ही मन हँसी आई। कमला उसकी भलमनसाहत का लाभ उठाने आई थी। वह दिनेश, उसकी बहू और लड़का।

उन्हें अपना जीवन मरुभूमि जैसा लगा। उसमें दिन में दो बार खाने और महीने में एक बार तनख्वाह ले आने का ही आनन्द था।

लेकिन कानून और व्यवस्था का क्या होगा?

उन्होंने निश्चय किया और गप्पें मारना शुरू किया। घर के प्रेमपूर्ण वातावरण में उनकी जीभ में भी कुछ और ही खूबी पैदा हो गई। वे अपनी जवानी और बचपन के चुटकुले सुनाने लगे। बात करते बात निकली।

"दीनू ! एक बात की खबर है कि नहीं कि कमला बहन ने मेरा हाथ काट डाला था ?"

"मेरा माँ ने ? सो कैसे ?" दिनेश ने पूछा। कमला बहन के दिल को धक्का सा लगा और वे घबराई हुई-सी देखने लगीं।

"तुम्हें खबर नहीं है कि तेरी माँ के साथ मेरी सगाई हुई थी।"

"क्या कहते हो ?" दिनेश का एक मित्र बोला।

"यह मैं जानता हूँ कि आजकल के तुम लोग ?" फौजदार साहब ने कहा, "कमला बहन एक दिन बाड़ी में आई और हम दोनों गाड़ी में बैठकर चुपचाप गन्ना खाने लगे।"

सब हँस पड़े। कमला बहन नीचे से ऊपर न देख सकीं। दिनेश की बहू शर्म के मारे लाल-पीली हो गई। "गन्ना काटते मेरी अँगुली कट गई।" फिर सब हँस पड़े। कमला बहन नीचे देखने लगीं।

"इसमें माँ ने कैसे काटी ?"

"इनके गन्ने ने कटवाई भाई ! मानते हो कि नहीं ?" फौजदार ने कहा। उनके गले से ऐसी प्रेममय और प्रसन्नता-पूर्ण आवाज निकल रही थी कि जो स्वयं उनको भी अजीब-सी लगती थी। यह रही वह अँगुली कहकर फौजदार ने बायें हाथ की बीच की अँगुली ऊँची की। दिनेश के एक मित्र ने दीपक लिया और कमला बहन को छोड़कर शेष सब फौजदार साहब की अँगुली देखने लगे। उनकी बात सच जान पड़ी। उनकी बायें हाथ की बीच की अँगुली में पहली गाँठ के आगे

बड़ा गहरा घाव था। वर्षों बीत जाने पर भी घाव साफ दिखाई दे रहा था।

फौजदार साहब की बड़ी-बड़ी आँखें विचित्र ढंग से कमला बहन पर जमी थीं और वे नीचे से ऊपर नहीं देख सकती थीं। दिनेश इन दोनों को देख रहा था। फिर बातचीत का रुख बदला। फौजदार साहब और कमला बहन ने बहुत-सी पुरानी बातें कहीं और युवक सबका मजा लेते हुए सुनते रहे।

बारह बजे और सब लोग तितर-बितर हुए। कमला बहन और दिनेश सबको दरवाजे तक छोड़ने आये।

"प्रमोद काका ! मुझे कब पकड़ना है ?" दिनेश ने पूछा। कमला बहन चिन्तातुर मुख से देखने लगीं।

"तुझे ?" हँसकर फौजदार साहब ने कहा और रहस्यमय ढंग से देखने लगे। My Boy, जब तक मैं अहमदाबाद में पुलिस का अधिकारी हूँ तब तक तो कभी नहीं। फौजदार साहब की आवाज भारी थी। कमला बहन की आँखों में कृतज्ञता झलकी। दिनेश की नजर फिर इन दोनों पर पड़ी।

" Thank you !" दिनेश ने कहा।

"आना भैया।" एक आवाज आई।

दरवाजा बन्द हो गया और चारों ओर अन्धकार छा गया। फौजदार अपने मुहल्ले में थे। पैर उन्हें ले जा रहे थे, पर हृदय आंतरिक प्रीति से पूर्ण सुखी कुटुम्ब में था।

ठंडी हवा चल रही थी। उन्होंने टोपी उतारकर मस्तिष्क को शीतलता पहुँचाना आरंभ किया।........

जैसे अकल्पित आह्लाद पीछे रह गया हो, ऐसे उन्होंने पीछे देखा। अन्धकार में सामने देखा। एक पुलिसमैन डिप्टी सुपरिंटेंडेंट को सलाम बजा रहा था। यह क्यों सलाम कर रहा है, इस बात पर उन्होंने विचार किया।

सहसा वे एक निश्चय पर पहुँचे। पुलिसमैन द्वारा उन्होंने एक किराये की गाड़ी मँगाई और उसमें बैठकर कलक्टर के यहाँ गये।

जब दो बजे वे घर आये तो उनका मुँह खिला हुआ था। उस रात जैसी सुखी रात उन्होंने कभी न बिताई थी।

दूसरे दिन से अफ़वाहों का ताँता लग गया।

एक अफ़वाह थी कि दिनेश ठाकुर को गिरफ्तार किया जानेवाला था पर प्रमोद फौजदार ने कलक्टर के पास जाकर त्यागपत्र की धमकी देकर वारंट रद्द करा दिया।

एक अफ़वाह थी कि दिनेश ने रात को फौजदार साहब को घर बुलाकर सत्याग्रह बन्द करने का वचन देकर वारंट रद्द करा दिया।

एक अफ़वाह थी कि फौजदार साहब ने दिनेश की माँ को समझाकर वारंट रद्द करा दिया।

ये अफ़वाहें जोर से फैलने लगीं। और दोपहर से पहले तो फौजदार ने त्यागपत्र कैसे फाड़ा, वे और कमला को गाड़ी में बैठकर कैसे गन्ने खाया करते थे, दिनेश ने क्या शब्द कहकर सत्याग्रह बन्द किया आदि बातों की सच्ची जानकारी रखनेवाले गली-गली में पैदा हो गये।

इन अफ़वाहों में सचाई थी तो इतनी ही कि दूसरे दिन

दिनेश को किसी ने नहीं पकड़ा। क्यों नहीं पकड़ा, इसकी खोज करने का हरएक को अधिकार था।

दिनेश ने रात मस्ती में गुजारी और सबेरे वह बेफिक्री से उठा। उसे फौजदार की बात का विश्वास न था इसलिए उसका निश्चय था कि उसे गिरफ्तार किया जायगा। आठ हुए, नौ हुए, ग्यारह हुए, वह कोर्ट में गया पर वारंट नहीं आया इसलिए वह निराश हो गया। यह विचार आते ही कि वह सत्याग्रहियों के शिरोमणि के रूप में सबसे पहले पकड़े जाने का सम्मान प्राप्त करते-करते रह गया, वह उदास हो गया।

फिर उसने अफवाहें सुनीं। पहले उसने उन पर ध्यान नहीं दिया। बाद में वह ढाई बजे गुजरात-क्लब में चाय पीने गया, वहाँ भी उसने वही बातें होती सुनीं।

एक छिछोरे साथी ने ताना मारा—"यदि मेरी माँ भी डिप्टी सुपरिंटेंडेंट के सामने बैठकर उसे गन्ना खिलाती तो मुझे भी कोई न पकड़ता।"

ये शब्द दिनेश के कानों में पड़े और वह चौंका। क्या इसमें कुछ सत्य है? उसके हृदय में शंका पैदा हुई।

फौजदार साहब उसके यहाँ पहले तो कभी आते नहीं थे, फिर कल कैसे आये? कभी आने की बात को छोड़ भी दें तो माँ के साथ इस तरह स्वतंत्रता से बातें करने का क्या मतलब है? कल जब फौजदार हँस रहे थे तब उसकी माँ नीचे क्यों देख रही थी? "जब तक मैं पुलिस में हूँ तब तक" का यकीन दिलाने की क्या जरूरत थी? अरे भगवान्! और

उन्होंने उसे 'माई बॉय' कहकर सम्बोधित किया था—और वह कटी हुई अँगुली।

उसके क्षुब्ध मस्तिष्क में प्रकाश हुआ। उसकी माँ के कारण ही फौजदार ने उसे छोड़ दिया और कलक्टर से उसका वारंट रद्द करा दिया। उसकी आँखों के सामने अँधेरा छा गया। उसकी माँ!........वह स्वयं किसका लड़का था? दिनेश भावुक था, नीतिज्ञ था, अपने को सत्याग्रही मानता था पर उसकी माँ....'हे भगवान्!' "वह बड़बड़ाया—मुझे क्या खबर है?"

जैसे-जैसे उसने रात की बातों को याद किया वैसे-वैसे उसे यकीन होता गया। उसका सर चकराने लगा। उसका खून खौलने लगा। सर दर्द का बहाना कर वह जल्दी से घर की ओर चला पर घर जाने का मन न हुआ। उस घर में जाऊँ—जहाँ ऐसी माँ रहती है वहाँ।

उसके हृदय में केवल वह कटी अँगुली ही घर किये रही। प्रभंजन उठा, अन्धकार छा गया। उसके मन में आया कि पुल से साबरमती में कूद पड़े। "अरी माँ! मुझे जन्मते ही क्यों न मार डाला? मुझे भूखे क्यों न मर जाने दिया? क्यों मुझे चक्की पीसकर पढ़ाया और मेरा ब्याह किया? मुझे किस लिए अच्छे संस्कार दिये?"

पैर उसे अपने घर ले गये। वहाँ उसने जाकर निश्चय किया कि वह बाल-बच्चों से मिलकर साबरमती आश्रम जायगा और गांधीजी के पदारविन्दों में आश्वासन प्राप्त करेगा। जब वह घर पहुँचा तब कमला बहन उसके लड़के को लिये बैठी थीं।

उसकी गोद से अपने पुत्र को कलंकित होते देख उसको क्रोध आ गया पर वह कुछ कह न सका। वह ऊपर चला गया और सर को हाथ से पकड़े सो गया। उसकी आँखों के आगे फौजदार साहब की कटी हुई अँगुली आई। "गन्ने के टुकड़े। हे प्रभु ! मैं कैसे जीवित रहूँगा ?" वह क्रन्दन करने लगा। उसे चैन न पड़ा। टोपी पहनकर नीचे आया। माँ को देखकर उसके गुस्से का पार न रहा। यदि उसका बस चलता तो ! नहीं, वह उसकी पूज्य माता है। लेकिन ऐसी पूज्य ! और वह किसका लड़का है ? 'माई बॉय' 'हे प्रभु !' वह बड़बड़ाया। उसे कँपकँपी आ गई।

उसका दिमाग चक्कर खा रहा था। वह बाहर आया पर यह न सूझा कि कहाँ जाय ? वह कोचरब की तरफ चला। जब तक चला गया, चला। रात होने पर भी वह चलता गया पर उसके हृदय की ज्वाला शान्त न हुई।

उसको लगा कि उसके माथे पर भयंकर कलंक है। अब उसे अपनी निर्बलता और अपनी वासनाओं का कारण समझ में नहीं आया। उसके रक्त में दुराचार की गर्मी थी। कल तक वह अपने को दैवी शक्ति-सम्पन्न समझता था पर आज उसकी अधमता की सीमा नहीं थी।

उसका जीवन व्यर्थ हो गया। उसने सोचा था कि वह अपने आत्मबल से गांधीजी की सेवा करेगा, सत्याग्रही सेना को विजय दिलायेगा और आर्यावर्त स्वतंत्र करायेगा। वह कटुता से हँसा। उसका आत्मबल ! कहाँ तो घोर क्षुद्रता का पुंजीभूत रूप वह और कहाँ आत्मबल ?

उसने जैसे भी हो वैसे जेल जाने या मर जाने का निश्चय किया। क्यों न जाऊँ? इसके पाप के लिए प्रायश्चित्त क्यों न करूँ? यह सच है कि वह अधम है पर वह अपनी आहुति द्वारा मातृभूमि के उद्धार की साधना क्यों न करे? यदि देश की स्वतंत्रता के लिए मरना न था तो उसे जन्म ही न लेना चाहिए था। उसके हृदय को कुछ शांति मिली। उसने संकल्प किया—माँ के पाप का प्रायश्चित्त करने का। फौजदार साहब की कटी हुई अँगुली इस संकल्प की अधिष्ठात्री थी। वह आश्रम पहुँचा और घर खबर भिजवा दी।

दूसरे ही दिन से दिनेश सत्याग्रही की ज्वाला बन गया। उसने खाना, पीना और सोना सब छोड़ दिया। उसने आत्मबल द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य को उखाड़ फेंकने का प्रण किया। उसकी आँखों के आगे सदैव फौजदार साहब की कटी हुई अँगुली रहती और उसकी व्रत-निष्ठा को अधिकाधिक दृढ़ बनाती जाती। अहमदाबाद की हलचल में, पंजाब के जुल्मों की जाँच-पड़ताल में और बारडोली के सत्याग्रह में सबकी जीभ पर दिनेश ठाकुर का नाम था। सारे भारत में उसका यश फैलने लगा। ज्यों-ज्यों उसका यश बढ़ता त्यों-त्यों उसे अपनी अधमता का मान अधिक तीव्रता से होता और वह बलिदान के लिए अधिकाधिक तत्पर होता जाता।

इस प्रायश्चित्त के लिए उसने घरवालों को भुला दिया। दिनेश की आमदनी के बन्द होने से उनकी तकलीफें बढ़ीं।

लेकिन फौजदार साहब दो-तीन दिन बाद दिनेश के लड़के को खिलाने जाते और घंटे दो घंटे वहाँ बिता आते।

इस प्रसंग ने उनके शुष्क जीवन को हरा-भरा कर दिया। आखिरकार उन्होंने स्वयं एक कुटुम्बी के रूप में कमला बहन की आर्थिक कठिनाइयाँ दूर करने का अधिकार माँग लिया और उस अधिकार का उपयोग करना भी शुरू कर दिया।

जब यह बात दिनेश के कानों में आई तो उसकी आत्मा काँप उठी। उसके प्रत्युत्तर में उसने प्रायश्चित्त करने की प्रतिज्ञा और भी दृढ़ की। इस प्रतिज्ञा और इसकी साकार मूर्ति—फौजदार साहब की कटी हुई अँगुली दोनों ने उसे जीवन में त्यागियों का भी त्यागी बना दिया।

गांधीजी ने बारडोली-सत्याग्रह की घोषणा की थी। उन्होंने राष्ट्र-नेता के रूप में गर्व के साथ ब्रिटिश साम्राज्य की भर्त्सना की थी। उनके सच्चे अनुयायी उनकी आज्ञा का पालन करने के लिए कटिबद्ध हो गये थे। वातावरण बड़ा गर्म था। सत्याग्रही और सरकार दोनों पक्ष अपनी-अपनी शक्ति को तोल रहे थे। दिनेश ने सुना कि दो दिन हुए, प्रमोदराय स्पेशल ड्यूटी पर बारडोली आये हैं।

सन् १९२२ की ११ फरवरी थी। वह आश्रम से बाहर निकला। उसका शरीर सूख गया था। उसकी आँखें अस्वाभाविक ढंग से चमक रही थीं। कुछ दिनों में या तो वह स्वयं जेल जायगा या किसी पुलिसमैन की बन्दूक का निशाना बनेगा। उसके जीवन के प्रचण्ड उत्सव की पूर्णाहुति का समय आ पहुँचा था।

कोई सामने खड़ा था। उसने ऊपर देखा। बीच में लम्बे, चौड़े, वृद्ध और गौरवशाली फौजदार साहब खड़े थे।

उनका मुख वात्सल्य भाव से खिला हुआ था। दिनेश चौंका, जैसे उसके सामने कालिया नाग खड़ा हो।

"दिनेश, कैसे हो ?" फौजदार साहब ने पूछा।

"आप कहाँ से ? कैसे आये हैं ?" दिनेश ने पूछा। गांधीजी के सत्संग से उसकी अनादर करने की शक्ति क्षीण हो गई थी।

"तुझे बचाने।"

"मुझे ! किसलिए ?" "तेरी माँ, बहू और लड़का तुझे सौंपने हैं।"

"सौंप दिये।" तिरस्कार से दिनेश बोला, "कल सबेरे मैं तो पहुँच ही जाऊँगा।"

"अच्छा ! अहमदाबाद ?" हँसकर फौजदार साहब ने कहा।

"आपको कैसे पता है ?" कटुता से दिनेश ने पूछा और "सरकार को स्वदेश, सत्याग्रह और स्वतंत्रता से क्या सरोकार !" कहकर दिनेश पीछे लौटा।

फौजदार साहब का मधुर हास्य उसके कान में पड़ा।

वह गांधीजी के आश्रम में वापस आया।

वहाँ हलचल मच रही थी। सत्याग्रही सैनिकों की टोलियाँ खड़ी थीं और बेचैनी से चुपचाप बातें कर रही थीं। हरएक मुख पर व्यग्रता थी, हरएक आँख में आतुरता।

राष्ट्र के जीवन-मरण जैसा एक भयानक अवसर था। महात्माजी चौरीचौरा-काण्ड के विषय में विचार करने के लिए एकान्त सेवन कर रहे थे।

एक मनुष्य पर, एक क्षण पर सारे देश का इतिहास और भविष्य निर्भर था। उस मनुष्य पर, उस क्षण पर शासन करने की किसी में ताकत न थी। क्या होगा?

पल भर के लिए समय की गति रुक गई।

एक सुपरिचित, मधुर और प्रतापी आवाज ने बाहर खड़े हुओं को बुलाया।

सब अन्दर गये। अहिंसा के अवतार के मुख पर ग्लानि-पूर्ण हास्य था। वहाँ विप्लववृत्ति और अहिंसावृत्ति के बीच हुए तुमुल युद्ध की झंकार तक न थी।

"बैठो, आन्दोलन बन्द किये बिना काम नहीं चल सकता," राष्ट्रपिता ने कहा और इतिहास के अनेक अध्याय लिखने का अधिकार छीन लिया।

कितने ही प्रसन्न हुए, कितने ही उदास हुए। दिनेश ने धड़कते हुए हृदय पर हाथ रखा। सत्याग्रह नहीं—आन्दोलन नहीं—जेल नहीं—विद्रोह नहीं—बन्दूक का वार नहीं—मृत्यु नहीं।

वह वहाँ से भागा—निराशा से व्याकुल होते हृदय को किसी प्रकार से शान्त करने के लिए। फौजदार साहब की कटी हुई अँगुली उसके सामने ऐसे नाच रही थी जैसे कि वह कोई ज्वालामय सत्य हो।

मरण चाहनेवाला कभी मर ही नहीं सकता, यह बात सच निकली। मृत्यु के लिए हाथ-पैर मारने पर भी वह उससे आकर नहीं मिलती। उसके भाग्य में तो निराशारूपी मृत्यु ही लिखी थी।

"कहाँ जाता है ?"

दिनेश चौंका—मानो भूत ने पकड़ लिया हो। फौजदार साहब उसके पास आये।

"क्यों भाई ! अब तो अहमदाबाद चलोगे न ?"

"क्यों चलूँ ? आपकी गन्ने की बातें सुनने ? कभी नहीं। मैं तो मरना पसंद करूँगा।" दिनेश के स्वर में क्रन्दन था। फौजदार साहब आँख फाड़कर देखने लगे।

"क्या ?" उन्होंने सख्ती से पूछा।

"कुछ नहीं," दिनेश ने रुँधे गले से कहा, "मुझे आपका काला मुँह नहीं देखना।"

फौजदार तुरन्त आगे बढ़े और दिनेश के दोनों कन्धों पर हाथ रखे।

"मूर्ख ! क्या बकता है ? तू भी बदमाशों की बातों पर विश्वास करने लग गया ? मूर्ख ! क्या इसीलिए मरना चाहता है ?" अब फौजदार साहब की समझ में आया।

"हाँ हाँ !"

"मूर्ख !" फौजदार साहब ने दिनेश को जोर से हिलाया, "तेरे उस जन्म-दिन से पहले कमला बहन ने और मैंने अपने जीवन में शायद ही कभी बातें की हों।"

"आपकी तो सगाई........"

"पागल ! झूठी बात है। क्या तुझे पता है कि कमला बहन मुझसे कहने आई थीं कि तेरा जन्म-दिन है इसलिए तुझे उस रात गिरफ्तार न करूँ ?"

"हाँ, मुझसे कहकर ही आई थीं।"

"लेकिन किस अधिकार से कहने आई थीं, इसका पता है?"

"नहीं।"

"उन्होंने यह बात अपनी ओर से जोड़ ली कि सचमुच हमारी सगाई हुई थी। मैंने भी उसे मान लिया।"

"किस लिए? और त्यागपत्र की धमकी देकर वारंट रद्द क्यों कराया?"

"दिनेश! पहले तो विवाह की बात मजाक में ही मानी थी लेकिन जब तेरे यहाँ गया तो तेरा सुख और तेरे घरवालों का प्रेम देखा। उस कुटुम्ब का अंग बनने के लिए मैंने उस बात का समर्थन किया। और यह सोचकर कि कहीं यह कुटुम्ब दुखी न हो, वारंट रद्द करा दिया। तू वकील होते हुए भी ऐसी मूर्खतापूर्ण बात करता है। मेरे लड़का नहीं था इससे मैंने समझा कि मुझे लड़का मिल जायगा।" फौजदार साहब ने म्लानमुख से कहा।

दिनेश ने ऊपर दृष्टि की। नितान्त एकाकी और वृद्ध फौजदार के मुख और आवाज में निहित भावों तथा स्नेहाकांक्षा को उसने देखा। इस वृद्ध मनुष्य ने अपने शुष्क जीवन को हरा-भरा बनाने के लिए यह उपकार किया था। अब वह यहाँ आया था और उसे लौटा ले जाने की कोशिश कर रहा था। उसकी माँ के द्वारा जोड़ी गई बात को भी स्वीकार कर लिया था लेकिन वह कटी हुई अँगुली।

फौजदार हँसे और कुछ देर रुके।

"मूर्ख! चल मेरे साथ।"

आगे-आगे फौजदार और पीछे-पीछे दिनेश—यों वे